# साहित्य की चेतना

पं० विद्यानिवास मिश्र

विन्ध्याचल प्रकाशन
छतरपुर (म.प्र.)

प्रकाशक :—
विन्ध्याचल प्रकाशन
छतरपुर

प्रथम सस्करण १९६७
मूल्य [redacted] सजिल्द
[redacted] साधारण संस्करण

मुद्रक :—
भार्गव प्रेस
१-ए वाई का वाग
इलाहावाद

# वक्तव्य

प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह बड़े दुस्साहस का कार्य है, माने जाने आलोचकों के ढर्रे पर न होने के कारण और भी अधिक चिन्त्य है। हिन्दी-साहित्य को मैंने संस्कृत-साहित्य से पृथक् नहीं माना, साहित्यमात्र को मैं एक ही मानता हूँ, परम्परा की दृष्टि से विशेष रूप से भारतीय-साहित्य को एक ही इकाई मानने को विवश हूँ। इसीलिये हिन्दी वाले संस्कृत के पंडित कह कर सन्तुष्ट हैं, संस्कृत वाले तो खैर हिन्दी में साँस लेना भी अपराध मानते हैं। मैं दोनों तरफ से गया-गुज़रा ( इसीलिये शायद मुक्तमना भी ) अनधिकारी आलोचक हूँ। यह ज़रूर है कि इस संग्रह की समीक्षायें मैंने किसी न किसी के आग्रह पर की हैं। इसलिये लगता है, कुछ दोष-मेरा नहीं बल्कि उस उल्टी बयार का है जो बह रही है। और लोग हैं कि खिड़की बन्द करके एयरकन्डीशन लगाकर, उससे बेखबर बस सो रहे हैं, कभी-कभी सपने ज़रूर उन्हें खराब दिखते हैं और वे बड़-बड़ा पड़ते हैं, तभी उनका आक्रोश लिखने में भी उतरता है।

मैं बस इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि साहित्य की चेतना किसी कुर्सी, गद्दी या सम्प्रदाय से बँधी नहीं है, खास तौर से आज के ज़माने में। मेरे ये निबन्ध निर्बन्ध साहित्य-चेतना के ही साक्षी हैं।

आभारी हूँ कल्पना, धर्मयुग, राष्ट्रवाणी जैसी पत्र-पत्रिकाओं का तथा भोपाल, आगरा और बीकानेर की गोष्ठियों का जिन्होंने इन निबन्धों को प्रस्तुत कराया। मेरे अनन्यतम मित्र श्री महेन्द्र कुमार मानव ने इसे छापना चाहा। उन्हें मैंने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकृति दे दी।

इसकी छपाई १८४, एलनगंज में रहते हुए हुई, गहरी दुर्दिनी छाया में, उस समय जिन स्नेही जनों का दुर्लभ सौहार्द मिला है, उनके प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, वे हैं आदरणीय पंडित उमाशंकर शुक्ल और मित्रवर डा० रघुवंश तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी।

अब ये निबन्ध आपके सामने हैं। आप यानी के साहित्य में, साहित्य की सार्थकता में जीने वाले उन्मुक्त पाठक। ये निबन्ध मार्ग-दर्शन कराने का दावा नहीं करते, ये सिर्फ लीक में फँसी हुई गाडी की ओर ध्यान खींचते हैं और लीक छोड़कर ही चला जा सकता है, इसके लिये आप से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं।

आश्विन शुक्ल १/२०२३ विद्यानिवास मिश्र

# निबन्ध सूची

# वाक् के महत्त्व के स्रोत

वैदिक देवताओ मे वाक् बहुत ही रहस्यमय देवता है। यद्यपि न तो संहिताओ मे और ब्राह्मणो मे ही वाक् से सम्बद्ध आख्यानो की सख्या अधिक है और न वैदिक अनुष्ठान मे वाक् के लिये आहुति ही विहित है पर जितने भी सन्दर्भ मिलते हैं वे असन्दिग्ध रूप से वाक् की महिमा प्रतिपादित करते है और इस ओर सकेत करते है कि भारतीय मनीषा मे वाक् का स्थान प्राग्भूत है। ऋक्सहिता के १-१६४, १०-१२५ और १०-७१ सूक्तो मे ब्राह्मणो के वाक्-सम्बन्धी अन्वेषण का स्रोत है। 'अस्यवामस्य' सूक्त मे वाक् को परमव्योम ब्रह्म कहा गया है। वाक् से आदिभूत समुद्र उद्भूत कहा गया है, दिक् वाक् के द्वारा अनुप्राणित कही गयी है, वाक् से ही अक्षर क्षरित होता है, वाक् ही वह गौरी है जो जल रूपी महत् की सृष्टि करती है और जो सहस्रपर्ण रूप मे विस्तार पाती है। दसवे मण्डल के वाक् सूक्त का साराश यह है कि यज्ञीय पदार्थो मे वाक् प्रथम है, द्यौ की जननी है, जल मे पली है और है वह प्राण-शक्ति, जो रुद्र का धनुष तानती है। वाक् सूक्त के ऋषि का नाम वाग् आम्भृणी कहा जाता है। अम्भृण का अर्थ सोमपात्र और महान् शक्तिशाली है। अम्भृण ऋषि की कन्या बतलाने का अभिप्राय वस्तुत. वाक् की रहस्यात्मकता ही है। अम्भृण नाम भृगु और अङ्गिरस् की तरह प्रतीक है। जैसे भृगु और अङ्गिरस् क्रमश सोम और अग्नि के प्रतीक है, वैसे ही अम्भृण सोम को ग्रहण करने वाली अग्नि अर्थात् अग्नि और सोम के मिथुनीभवन का प्रतीक है। मेरा अनुमान है कि अम्भृण का अर्थ है ( अम्भस् + ऋ ) अम्भस् को गतिशील बनाने वाली, अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया को प्रवर्तित करने वाली शक्ति। वाक् सूक्त मे

वाक् की धारणा आदि प्रवर्तिका के रूप में की गयी है। वेद जो इस अन्तर्निहित शक्ति के प्रकाशन हैं इसीलिये परब्रह्म के निश्वसित कहे गये हैं। यह शक्ति तान्त्रिक दर्शन की परावाक् से तुलनीय है। कुण्डलिनी के रूप में जिस संचारिणी प्राणशक्ति की कल्पना की गयी है, उसका भी बीज वाक्सूक्त की वाक् में है।

वाचस्पति सूक्त में वाक् का महत्त्व यज्ञ के कारण बतलाया गया है और उसे वाक् प्रेरणा का स्रोत कहा गया है। वाक् को "देखते हुए भी कोई देख नहीं पाता, सुनते हुए भी कोई सुन नही पाता, यह सुवसना जाया की तरह जिसके ऊपर रीझती है उसके सामने अपने को पूर्णरूप से विवृत कर देती है।" ऋक्संहिता मे कुछ प्रकीर्ण सन्दर्भ भी हैं जिनमे कहीं तो वाक् को सोम की पत्नी कहा गया है, कही गन्धर्वों को वाक् का जनक कहा गया है। एक जगह वाक् को विजय का साधन भी कहा गया है, और एक जगह सहस्र रूपो मे आब्रह्म वाक् का विस्तार बतलाया गया है। ऋक्संहिता मे ही वाक् के तीन स्वरूपो के तीन नाम आये हैं—इला, सरस्वती और मही। श्री अरविन्द ने इला को दृष्टि, सरस्वती को श्रुति और मही को चित् का विस्तार माना है। मेरे विचार मे ये तीनो स्वरूप न केवल ऋत्, सत्य और बृहत् के प्रतीक है, बल्कि वे साथ ही साथ, क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के भी प्रतीक है। वाक् का सबसे सूक्ष्म स्तर जो इन तीनो मे व्याप्त है और तीनो को अतिक्रांत करने वाला है वही मूलशक्ति है। प्रकाश का विस्तार द्यौ मे होता है इसीलिये दिव्यरूप ऋतमय है। अन्तरिक्ष स्थिति का द्योतक है और साथ ही द्वैत का भी। यह स्थिति मध्यमावाक् की स्थिति है और सत्य की स्थिति है। पृथ्वी वाक् के इन्द्रिय ग्राह्य रूप का प्रतीक है, पृथ्वी, मही, भारती तीनो पर्याय बडे सार्थक पर्याय हैं। वैखरीवाणी को अग्नि अर्थात् प्रकाश का स्थूल रूप माना गया है। अग्नि को भारत भी कहा गया है और जिस देश मे वाणी के तेज की उपासना (प्रतीकात्मक भाषा मे, भारत अग्नि की उपासना) प्रचलित हो, उसको बाद मे ठीक ही भारत नाम मिला। सरस्वती नाम की नदी और उसके अदृश्य होने की कल्पना वाक् के उस अव्यक्त जलीय रूप की कल्पना से मेल खाती है, जिसमे वह वाक् सृष्टि के बीज को धारण करने वाली अमूर्त शक्ति बन जाती

है। बॉश ने अपने ग्रन्थ 'गोल्डेन जर्म' मे वाक् को जलरूप मे देखने की प्रतीकात्मकता पर विचार करते हुए ठीक ही कहा है कि जल प्रतीक से अन्तर्निहित शक्ति का तादात्म्य, विस्तार, एकरसता, द्रवता, अरूपता आदि गुणो के सादृश्य के कारण बहुत समीचीन है। बाद मे कमलासना और हसवाहिनी देवी के रूप में वाक् की कल्पना इसी से उद्भूत हुई। ऋक्सहिता मे वाक् सृष्टि की प्रेरक शक्ति, मानवीय अस्तित्व की प्रेरक शक्ति और यज्ञ-प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति के रूप मे परिनिष्ठित हो गयी थी। वाक् का यह त्रिवृतीकरण देव और विश्व के त्रिविध विभाजन के साथ मेल खाता है।

इसी त्रिविधकरण का विस्तार ब्राह्मणो मे मिलता है। ब्राह्मणो मे वाक् अधिकतर प्रेरक शक्ति के रूप में ही चित्रित है, भाषा प्रक्रिया या वागिन्द्रिय से वाक् का तादात्म्य बहुत विरल स्थानो मे ही स्थापित किया गया है।

सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध आख्यानो मे वाक् या तो प्रजापति की सिसृक्षा है, पुत्री है या पत्नी। जैमिनीय ब्राह्मण मे एक आख्यान आता है जिसमे सबसे प्रारंभ मे कहा जाता है कि वाक् थी। वाक् ने यज्ञ किया, उसकी आहुतियाँ बारह महीनो में परिणत हुई; फिर यज्ञ किया, आहुतियाँ तीस दिनो मे परिणत हुई और सम्वत्सर का इस प्रकार निर्माण हुआ। यह सम्वत्सर ही पहला यज्ञ हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण के एक आख्यान मे प्रजापति ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ की सृष्टि की, जिससे क्रमश अग्नि वायु और आदित्य उत्पन्न हुए जो ऋक्, यजुष् और साम मे परिणत हुए। इन तीनो के सार अश से तीन महान् व्याहृतियाँ भू, भुव और स्व उत्पन्न हुईं, इन्ही को अ, उ, म अक्षरो के द्वारा बोधित किया गया। काठक ब्राह्मण मे वाक् को प्रजापति की सहचरी माना गया। वाक् ने प्रजापति से गर्भ धारण किया और सोम को उत्पन्न किया। सोम को उत्पन्न करके वाक् प्रजापति मे पुन प्रविष्ट हो गयी।

जैमिनीय ब्राह्मण मे एक दूसरे स्थल पर वाक् 'आरम्भणीय अहन्' कही गयी है, उसी से सम्वत्सर का प्रारम्भ बताया गया है, वही यज्ञ की प्रवर्तिका बतलायी गयी है और वही समस्त बाह्य रूपो का आन्तरिक आधार कही गयी है। जैमिनीय ब्राह्मण के एक दूसरे आख्यान के अनुसार प्रजापति ने वाक् को

उत्पन्न किया, वाक् ने गौ को, उस गौ को आठ वसुओ, ग्यारह रुद्रो और बारह आदित्यो ने क्रमशः एक-एक वर्ष अपने पास रखा और उसकी सहायता से सृष्टि का वितान किया। इन सभी आख्यानो मे वाक् अन्तर्निहित सृष्टिबीज है, सोयी हुई सिसृक्षा का पहला स्पन्दन है और ऋक्, यजुप् और साम यहाँ तीन सहिताओ को तो बोधित करते ही हैं–पार्थिव, आन्तरिक्ष और दिव्य, वैखरी, ये मध्यमा और पश्यन्ती के भी पर्याय है। दूसरे शब्दो मे क्रिया, ज्ञान और इच्छा के पर्याय हैं। इन तीनो स्तरो से परे है स्पन्दन-रहित आदि शक्ति जो स्वय प्रजापति है। इसीलिये यज्ञ मे प्रजापति को आहुति 'तूष्णीम्' दी जाती है, मन्त्रोच्चारण की प्रक्रिया वहाँ नही होती, क्योकि मन्त्रशक्ति के स्रोत के लिये मन्त्र क्यो हो। इसको, इस आदि शक्ति की, जल के रूप मे देखने का अभिप्राय ही है कि यह जीवन-प्रक्रिया के अथाह अगोचर प्रसुप्त और असीम विस्तार की राशि है। इसी का जब दो विपरीत दिशाओ मे प्रस्फुटन हुआ तो एक सर्पराज्ञी (सर्पो की रानी) कद्रू हुई, दूसरी सुपर्णी हुई, सोम की, गरुड की माता। एक पृथ्वी हुई, दूसरी द्यौ। एक शब्द हुई दूसरी अर्थ, एक स्थूल हुई, दूसरी सूक्ष्म, एक दु ख की कारण हुई, दूसरी सुख की। इस द्वैत के आभास की स्थिति वह थी, जिसमे स्त्री और पुरुप-तत्त्व, अग्नि और सोम एक मे सम्पृक्त थे। अग्नि वाक् का पार्थिव रूप द्योतित करता है, सोम अपार्थिव। इसीलिये कही-कही सोम और वाक् के मिथुनी-भवन का आख्यान है और कही-कही अग्नि और सोम के मिथुनीभवन का। जिन उपाख्यानो मे इस प्रकार का विवेचन है उनमे वाक् सृष्टि की प्रेरिका शक्ति न होकर सिसृक्षा का उत्ताप है। ऐसे उपाख्यानो मे इसीलिये वाक् एक वर्ष की लाल रग की गाय के रूप मे चित्रित की गयी है, जिसको दे कर सोम खरीदा गया है। सोम आह्लादवृत्ति है, मादक या कारकवारि नही, रस नही। गन्धर्व इस सोम के रक्षक है और वे वाक् के स्त्रीसुलभ सौन्दर्य से आकृष्ट होकर ही वाक् को ले कर सोम दे देते है। इस प्रकार वाक् दिव्यमादन भाव प्राप्त करने के लिये एक प्रकृष्ट साधन है। यह लक्ष्य नही है, यह देवताओ की तृप्ति की प्रतीक इला है। यह सोम और वाक् के मिथुनीभवन मन्त्र की अजपाजप साधना

की स्थिति है, पार्वती-परमेश्वर की सम्पृक्त स्थिति है।

सोम जहाँ वाक् का पुत्र है, वहाँ वाक् से तात्पर्य वाक् का परम अव्यक्त स्तर है, वाक् का सूक्ष्मतम अनुभाव्य स्तर नही। सोम स्वय चैतन्य का, आनन्द का उच्छ्वास है। वाक् के दिव्य रूप मे ही सम्पृक्त होने पर वह पूर्णकाम होता है। शिव की कल्पना मे इसी सोम का योग है। सोम उच्छल आनन्द की स्थिति होने के कारण जितना ही प्रमाथी है, उतना ही शान्त भी। सोम-वाक्‌परक आख्यान वाक् के दूसरे स्तर से ही इस प्रकार सम्बद्ध है।

वाक् से सम्बद्ध आख्यानो की एक तीसरी शृखला है जिसमे, वाक् किसी न किसी रूप मे देवासुर-सग्राम मे विजय के साधन के रूप मे प्रयुक्त हुई है। यहाँ पर वाक् वाणी की शक्ति है या साक्षात् प्रातिभ या अन्त प्रेरणाजन्य वाणी है। शतपथ ब्राह्मण के एक आख्यान के अनुसार प्रजापति के दाय के लिये देवताओ और असुरो मे लडाई हुई। बाद मे बॅटवारा हुआ। देवताओ ने मन लिया, असुरो ने वाणी। देवताओ ने यज्ञ चुना असुरो ने वाणी। देवताओं को द्यौ मिला, असुरो को पृथ्वी। पर देवता वाक् के बिना निष्क्रिय हो गये, उन्होने यज्ञ से वाणी को फुसला कर लाने के लिये कहा। दो बार वाणी ने तिरस्कार किया। तीसरी बार वह यज्ञ के बुलाने पर आयी। देवताओ ने उसे आहवनीय अग्नि मे छिपा दिया और वाक् से वचित होकर असुर म्लेच्छ भाषा बकते हुए पलायन कर गये। ताण्ड्य ब्राह्मण के आख्यान मे इन्द्र द्वारा अश्लील वाक् के वध किये जाने की कहानी है। ताण्ड्य ब्राह्मण मे एक दूसरा आख्यान आता है— वाक् देवताओ के पास से चली गयी और जल मे प्रविष्ट हो गयी। देवताओ ने उससे याचना की, आ जाओ। वाक् ने देवताओ से यह शर्त रखी कि मनुष्य मुझे अपवित्र न करने पाये, तभी मै तुम्हारे साथ चलूँगी। देवताओ ने शर्त स्वीकार की और वाक् देवताओ के पास आयी। गोपथ ब्राह्मण के एक आख्यान के अनुसार देवताओ ने इन्द्र की पुरी से ओकार के उच्चारणमात्र से असुरो को भगा दिया। इस शृखला के आख्यानो मे वाक् पार्थिव धरातल पर आ गयी है और उसका तादात्म्य वाणी के भौतिक या पूर्व-भौतिक रूप से कर दिया गया है। यह जरूर है कि वाक् अब भी सामान्य

भाषा नही है, वह मन्त्रशक्ति है, यज्ञ की सहचरी है; आर्षवाणी है, सामान्य व्यवहार की भाषा से ऊपर की स्थिति मे है। असुरों के पास वाणी के चले जाने का अभिप्राय यह लगता है कि असुरो ने मन्त्रशक्ति की परम्परा जगा रखी थी, देवता भूल गये थे। पुराणो मे उशना कवि, शुक्र, भार्गव, असुरगुरु, वाणी के तेज इन सब का तादात्म्य इसी दिशा मे सकेत करता है। इस स्तर पर वाक् का मिथुनीभवन मनस् से होता है। मनस् की शतपथ ब्राह्मण मे अन्तरिक्ष से और वाक् की पृथ्वी मे, समता बतलायी गयी है और यही मध्यमा वाक् का स्तर है, जिसमे शब्द और अर्थ का पृथक्करण हो जाता है, शब्द कण्ठ मे आ जाता है और उसकी व्यग्रता अनुभवगोचर हो जाती है। एक तरह से यह शब्द की धारणा की स्थिति है, अर्थ द्वारा शब्द को प्रेरित करने की स्थिति है, ज्ञान की स्थिति है। इसी को अभिनव गुप्त ने 'त्रिलोचनप्रिया स्फुटतापत्ति-दायिनी परमेश्वरी' कहा है। असुरो के साथ इसका सम्बन्ध असुरो की प्राण-शक्ति से मेल खाता है। इस प्राणशक्ति के अभाव मे ही देव मनुष्यो की सहायता से ही असुरो पर विजय प्राप्त करते हैं।

वाक्परक आख्यानो की एक चौथी शृखला है जिसमे वाक् वस्तुत. भाषा है, यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाली भाषा है जो आनुष्ठानिक महत्त्व के कारण मंगलमयी है, प्रत्यक्षार्थ-निदर्शिनी है, इसीलिये वह यज्ञपात्रो मे गूंज के रूप मे रहती है। उस गूंज के भय से ही राक्षस पास नही आते। वस्तुत. वेद मंत्रो के उच्चारण मे पवित्रता का विश्वास अनुष्ठानो के विकास के साथ-साथ दृढ होता गया। भाषा के सस्कार को अपने मे एक पवित्र कार्य माना जाने लगा और भाषा के प्रत्यक्ष व्यापार को भी इस प्रकार महत्त्व मिला। शतपथ ब्राह्मण के एक आख्यान मे इस वाक् को मनु के वृष से मनु की पत्नी मानवी मे स्थापित किया गया, फिर मानवी से यज्ञ के पात्र मे स्थापित किया गया और इस वाक् को मारने से समस्त प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। वस्तुत. यह मानवी वाक् की अक्षुण्ण–आनुश्रुतिक परम्परा का ही निदर्शन है।

अग्निचयन मे (जिसका अर्थ ईंटो के चयन और प्रतीकात्मक रूप मे आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मपरिशुद्धि है) वाक् को दो प्रकार की ईंटो से अभिन्न

बतलाया गया है—यजुष्मती और लोकम्पृणा। यजुष्मती ईंट बिलकुल ठीक केन्द्र में स्थापित की जाती है और लोकम्पृणा परिधि मे। लोकम्पृणा लोक के वितान की द्योतक है और यजुष्मती अन्तर्निहित शक्ति की। वाक् का तादात्म्य एक तीसरे प्रकार की ईंट अषाढा से स्थापित किया गया है। अषाढा का निर्माण यजमान पत्नी करती है और उसे चयन के बीच मे सबसे पहले रखा जाता है। इसके बाद हिरण्यमय पुरुष, द्वियजुष (यजमान) और कूर्म (=प्रजापति या कश्यप या सूर्य का प्रथम अभिव्यजन), ये तीन एक-एक करके रखे जाते हैं। अषाढा इस प्रकार जगज्जननी शक्ति ही है, जो यजमान मे है, और जो परमपुरुष मे है। चयन का आकार भी सुपर्ण का होता है जो कि वाक् के दिव्य स्तर से या सत्य से अभिन्न है। इस प्रकार यजुष्मती के रूप मे परावाक्, अषाढा के रूप मे मध्यमा और लोकम्पृणा के रूप में वैखरी तथा पूरे चयन के मूलाधार के रूप मे सौपर्णी वाक् अर्थात् पश्यन्ती एक साथ स्थापित की जाती हैं।

सक्षेप मे वाक्परक आख्यानों की ये शृंखलाएँ शैवागम के वाक् चिन्तन, शब्दब्रह्मवाद, सरस्वती और प्रज्ञा की मूर्त कल्पना, भारतीय सस्कृति मे वाक्-व्यापार के महत्त्व तथा भारतीय जीवन मे वचन के मोल की धारणाओ की स्रोत हैं।

———

# संस्कृत-साहित्य

मम्कृत-साहित्य को भारत की एक सांस्कृतिक धारा के स्रोत के रूप मे देखने के पहले सस्कृत भापा और उस भाषा के व्यवहार करने वाले समुदाय को समझना आवश्यक है। वस्तुत· संस्कृत नाम सस्कारकेन्द्रित भारतीय जीवन का उपलक्षण है। संस्कार का अर्थ कृत्रिम प्रक्रिया नही बल्कि जीवन के गहन प्रयोजन की योग्यता पाने की सहज प्रक्रिया है। जव सस्कृत लोकभापा नही भी रही तव भी लोक-समादृत भाषा वनी रही और आज भी हमारे संस्कार की वह भाषा वनी हुई है। सस्कृत-भापी समुदाय की मुख्यरूप से सात विशेपताएँ हैं। पहली तो यह कि यह समुदाय रक्त या वर्ण या विश्वास के आधार पर एक नही था। आर्य शब्द का व्यवहार गुणवाचक अर्थ मे है, जातिवाचक अर्थ मे नही। आचरण ही आर्यत्व का विवेचक रहा और आचरण की एकता मे ही पृथ्वी सूक्त मे वर्णित नानात्व बँधा रहा। दूसरी विशेपता है उस समुदाय के शुरू से ही देश का कालातीत होना। उस समुदाय ने केवल आचरण के सौष्ठव की मर्यादा स्वीकार की और इसलिये अपने धर्म का नाम और अपनी भाषा का नाम भौगोलिक या जातीय आधार पर नही रखा। तीसरी विशेपता है, ज्ञान के निरन्तर अन्वेषण का आग्रह। वेद का प्रामाण्य जिन लोगो ने माना उन्होने वेद के रूप मे ज्ञान की निरन्तरता का, परम्परा की संलग्नता का ही आग्रह रखा, जिन्होने नही माना उन्होंने तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार की। इस समुदाय की चौथी विशेषता थी वाचिक परम्परा मे विश्वास। प्रतिदिन के जीवन मे, चिन्तन मे और साधना मे सर्वत्र वाग्देवता का प्राधान्य स्वीकृत रहा है। इस समुदाय की पाँचवी विशेषता है जगत् के साथ उनकी सामरस्य

दृष्टि, सामरस्य सिद्ध वस्तु नही निरन्तर साध्यवस्तु है और यह सामरस्य प्रकृति और मनुष्य की निर्मिति, प्राकृतिक परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनो से अभीष्ट है। सघर्ष के लिये स्थान हमारे चिन्तन में है, पर वह चिन्तन परिवेश से नही परिवेश के अधूरे ज्ञान या अज्ञान से है। सामरस्य वस्तुतः तादात्म्य के लिये भावनात्मक प्रयत्न है। इसी को साहित्य मे भक्ति की साधना मे और कला मे मिथुनीभवन के द्वारा व्यक्त किया गया है। छठी विशेषता है स्वातत्र्य की परिकल्पना। स्वातंत्र्य का अर्थ पर का लोप नही स्व का विस्तार है। स्वतत्रता की कामना बौद्धिक ताटस्थ्य की कामना नही 'स्वात्मायतनविश्रान्तप्रतिभा' के प्रस्फुटन की कामना है। अन्तिम विशेषता है परोक्षप्रियता। ब्राह्मणो मे देवताओ को परोक्ष प्रिय कहा गया है। जिस प्रकार यज्ञ का पुष्करपर्ण वनस्पति जगत् का पुष्करपर्ण नही, उसी प्रकार भारतीय कला का कमल ऐन्द्रिय अनुभव का कमल नही, यह कमल कुमारस्वामी के शब्दो मे अधिदैवत है, प्रत्यक्ष नही। सस्कृत में प्रतीकवाद अर्थ का द्वार है और साहित्य का प्राण है। वह अपने मे साध्य नही।

संस्कृत-साहित्य इसी समुदाय का जातीय बोध है। इस समुदाय की उदार दृष्टि ही सस्कृत-साहित्य को एक ऐसी विशालता और एक ऐसा शाश्वत मूल्य प्रदान कर सकी है, जिसके कारण वह हमारी समग्रता का-मात्र एकता का ही नही—आज भी प्रमाण है। इस साहित्य की आधार-भूमि ही समूचे भारतीय साहित्य की तमाम विजातीय प्रभावो के बावजूद आधार-भूमि है।

सस्कृत साहित्य के मूलभूत आधार को हम पाँच मुख्य खडो मे विश्लेषण करके देख सकते है। पहला आधार है जगत् के बारे मे विशिष्ट सम्पृक्त पर स्वतन्त्र दृष्टि। सस्कृत साहित्य मे वस्तु जगत् का दर्शन किसी एक झरोखे से करने का यत्न नही है। वस्तु जगत् जिस रूप मे अनुभव करने वाले रचनाकार या सहृदय के मन मे है उसी रूप मे साहित्य मे अभिव्यक्त किया गया है। साहित्य का जगत् न तो काल्पनिक है न वास्तविक। वह वस्तुत आनुभाविक है। यही नही, बल जगत् के अनुभूत होने पर नही, अनुभविता के उस जगत् मे अधिष्ठित होने पर है। यही कारण है कि कभी-कभी जगत् का चित्र बहुत

गणितात्मक सा प्रतीत होने लगता है, सौन्दर्य के वर्णन एक सतही दृष्टि मे लकीर से बँधे दिखने लगते हैं। पर गहराई मे जाते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बँधे से वर्णन या निश्चित व्यवस्था वाली ध्यान-मुद्राएँ माध्यम हैं अनिवर्चनीय अनुभव से जुडे अनुभविता को व्यक्त करने के लिये। दूसरा आधार है दिक्कालातीत बोध। पश्चिमी साहित्य मे काल की सीमा की सजगता मिलेगी और देश के वैशिष्ट्य का आग्रह। पर संस्कृत साहित्य मे इतिहास और मिथ पर्यायवाची हैं। साहित्य के आराध्य इतिहास से मुक्त हैं। वाल्मीकि के राम और भवभूति के राम मे इसीलिये विरोध नही है कि दोनो सत्य के निरन्तर प्रवाह मे स्थित एक सत्ता हैं। इस साहित्य मे एक क्षण पर नही, क्षणों की सन्तानवाही धारा पर बल है। कमल और हंस-मिथुन की पट्टिका के द्वारा कला मे, जन्मजन्मान्तर तक चलने वाले प्रेम के द्वारा कथा मे और एक प्रदीप से प्रवर्तित होने वाले दूसरे प्रदीप की शृखला के द्वारा काव्य मे इसी निरन्तरता की अभिव्यक्ति की गयी है। युग काल का बोधक नही वृत्ति का बोधक है। काल के बन्धन की उपेक्षा करते हुए भी इसीलिये कालच के प्रवाह की बहुत प्रखर अभिव्यजना सस्कृत साहित्य में मिलती है। यह कालचक्र दूसरे शब्दो मे ऋतुचक्र या सवत्सर जीवनरूपी यज्ञ से अविलग है। यही बौद्ध भाषा मे धर्मचक्र है। देशसीमित बोध का भी सस्कृत साहित्य में अभाव है। जैसे भारतीय शिल्प और कला मे प्राकृतिक पृष्ठभूमि छोरो पर न होकर चित्र या शिला के ऊपरी भाग पर होती है, वैसे ही साहित्य मे प्रकृति वर्णन विलग न होकर शीर्षस्थ रहता है। प्रकृति-वर्णन का उद्देश्य वस्तु को उभारना उतना नही है जितना कि उसको ओत-प्रोत करना। भौगोलिक अर्थ मे भी देश का बोध एक सीमा के रूप मे न होकर सीमातीत विश्व की सदृश्य अभिव्यक्ति मे है। हिमालय भारत का ही मानदड नही, पृथ्वीमात्र का मानदड है। गगा उत्तर भारत की ही नदी नही, त्रिभुवनमात्र मे प्रवाहित होने वाली शुचिता की धारा है। भारत का निर्धारण एक विशाल कुल की कल्पना मे है, जिसमे पर्वत नदी से लेकर देव-किन्नर और पशु-पक्षी से लेकर वनस्पति तक मनुष्य के बराबर साझीदार हैं। भारत भौगोलिक सीमा नही, तप और कर्म

से अभिभावित समुदाय का विस्तार है। वह एक चढा हुआ धनुष है, एक जगती हुई यज्ञवेदी है।

तीसरा आधार है पुरुषवाद। पुरुष का अर्थ मनुष्यमात्र नही, चैतन्य से प्रवह-मान पिंडमात्र है। सस्कृत साहित्य का पुरुषार्थ पिंडमात्र मे एक अखड प्रवाह देखना है। पुरुषवाद का अर्थ है लोकमय पर लोकातीत विराट् पुरुष की प्रतिष्ठा, शैव भाषा मे प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की एकाकारता। मानववाद इस पुरुषवाद का एक वामन रूप मात्र है, जो अभिमानी को छलने भर को है। सस्कृत साहित्य का रचयिता अपनी रचनाशक्ति को आह्लादिनी शक्ति के रूप मे या सधिनी के रूप मे देखता है, यह सधिनी शक्ति अधूरे और पूरे के बीच साधक और शिव के बीच की कडी है।

चौथा आधार है सस्कृत साहित्य की शिवदृष्टि। कही-कही इस दृष्टि का प्रसार निषेवमुख से शिवेतरक्षति के रूप मे और कही-कही विधि-मुख से लोक-मगल की दृष्टि मे हुआ है पर यह दृष्टि है सर्वत्र। यह मानव शरीर को भी शिव का अधिष्ठान मानती है। संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिकता का नारा इसी लिये कही सुनने को नही मिलता, शिव तो शरीर मे, वाणी मे, श्रुति मे, दृष्टि मे प्रतिष्ठित है उसके बाहर कहाँ। इसीलिये दु खान्त कल्पना भी नही है। दु:ख मे अन्त वही होगा, जहाँ देह या दृश्य जगत् पारमार्थिक दृष्टि से प्रतिकूल या अकाम्य होगा। शिवेतर का अर्थ शिव का प्रतिषेध नही और शिवेत-रक्षति का अर्थ शिव से केन्द्रापसारी शक्ति का नाश है तिरोभाव नही है। शिव दृष्टि के ही कारण सस्कृत साहित्य मे तप और तपोवन की शक्ति की, तितिक्षा की, त्याग की, अखड जीवन-बोध की और परहित साधना की इतनी महिमा है।

इन सब आधारो से भी बडा आधार है विवेक, सत् और असत् का उतना नही, धर्म-अधर्म का भी नही, जितना परमार्थ सत् और व्यवहार सत् का है। जिन लोगो की सस्कृत साहित्य मे भौतिक विलास, उद्दाम शृगार और निभृत प्रेमलीला मात्र पर जाकर टिकती है उन्हें स्मरण करना चाहिए कि प्रेम की तीव्रता का निरूपण इतने स्वाभाविक रूप मे इसलिये कराया गया है कि

दु सहप्रेमविरहतीव्रतापधुताशुभा।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला.॥

तमेव परमात्मान जारबुद्‌ध्यापि सगता ।
जहुर्गुणमय देह सद्य. प्रक्षीणबन्धना : ।।

वह तीव्रता इसलिये पुण्य-अपुण्य दोनो का क्षय कर सके, परमात्मा से सगत कर सके । यहाँ विवेक है आत्मा और अनात्मा मे । कालिदास के काव्य मे पार्वती का 'पर्याप्तसन्ध्येव शरत्त्रियामा' के रूप मे चित्रण प्रेम की धौत शुभ्रता का चित्रण है, भवभूति की सीता की 'दुग्धकुल्येव' दृष्टि से राम का अभिषेक सीता मे निहित अमृतकला का ही छिडकाव है, बाणभट्ट की कादम्बरी और श्रीहर्ष की दमयन्ती के प्रेम मे भी जो एकनिष्ठता है, वह विवेक को बिसरा कर नही, क्योंकि ये दोनो नायिकाएँ मर्यादा का अतिक्रमण न करती हुई भी एकनिष्ठ है । विवेक के इस स्वर के ही कारण उत्तमनायक उद्धत नही प्रशान्त नही, ललित नही, उदात्त है । विवेक का ही एक प्रकार है काम का भस्म होना और तप के द्वारा रूप की अवन्ध्यता लाना । इसी के कारण रोमाटिक प्रवृत्ति का लगभग अभाव सा दीखता है, सस्कृत साहित्य की मूलधारा मे एक छोटी सी धारा भी है रोमाटिकप्रणयगाथा की, पर वह भी विवेक की चौडी धार मे आकर विलीन हो गयी है । यह विवेक ही सस्कृत के मानव का मस्तक देवता के सम्मुख युद्ध मे उन्नत रखता है, रघु, अर्जुन, नल, और राम इसीलिये तो सस्कृत साहित्य की मानवीय परिकल्पना के प्रतिमान बन गये है, पर इतना है कि यह विवेक ताटस्थ्य का विवेक नही, यह तादात्म्य लाने वाला विवेक है, यह आरोपित भी नही है, यह अन्त करण का सहज विवर्त्तन है । यही यह पश्चिमी बौद्धिकता से (जो कभी-कभी क्या प्राय ही बहुत निर्मम है) और चीनी निश्चिन्तता से विलग है ।

इस सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सस्कृत साहित्य की इस आधार-शिला पर ही भारतीय जीवन दृष्टि आज भी आधारित है और आज भी विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न प्रकार के घातप्रतिघात को वहन करते हुए एक अखड चेतना से उद्‌भासित तमाम साहित्यो को जोड़ने वाली शक्ति आज भी सस्कृत और उसमे निहित सास्कृतिक सम्पत्ति मे है ।

———

# प्रकृति-वर्णन — काव्य और परम्परा

काव्य वस्तुतः मनुष्य जाति के रसग्राही मन मे पड़ने वाले विश्व के प्रतिविम्बो का एक चुना हुआ और ढग से सजाया हुआ गुलदस्ता है। विश्व के प्रपच मे वस्तुत. तीन सत्ताये है—मनुष्य द्वारा निर्मित समाज सस्कृति एव सभ्यता के सस्थान, मनुष्य का अन्त करण और शेष वह समस्त चर-अचर जगत् जिसके निर्माण मे मनुष्य का योगदान न होते हुए भी उसके साथ मनुष्य का जन्म से ही किसी न किसी प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी तीसरी सत्ता को हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृति को कुछ लोगो ने संस्कृति का पूरक और कुछ ने विरोधी तत्त्व माना है। प्रकृति के प्रति प्राय. संस्कृत जन की तीन दृष्टियाँ होती है— या तो वह प्रकृति के सहज आह्लादन उन्मादन एव उद्दाम अनगढ रूप को अपने जीवन की सहज वृत्तियो की प्रतिकृति के रूप मे पाना चाहता है, या वह प्रकृति को मनुष्य की विजय के लिये एक लक्ष्य मात्र मानकर उसके रहस्यो को हस्तगत करके उसके ऊपर शासन करना चाहता है या वह प्रकृति की ओर से उदासीन रहकर अपने तथाकथित सस्कृत जीवन को अपने और अपने समाज मे रखना चाहता है। इस तरह आकर्षण, विकर्षण और उदासीनता से प्रेरित ये तीन दृष्टियाँ होती हैं। उदासीन दृष्टि प्राय ऐसे ही खडमनाओ की होती है, जिनमे ससार के तमाम व्यापारो की कोई गूँज नही उठ पाती और जिनका वौद्धिक या भावनात्मक स्तर वहुत छिछला होता है। विकर्षण की दृष्टि विश्लेषण-कर्त्ता की दृष्टि है, वही वैज्ञानिक की दृष्टि है। आकर्षण की दृष्टि सश्लेष की दृष्टि है, वह काव्य या कलाकार की दृष्टि है।

प्रकृति के प्रति प्राचीन काल से ही कवि आकृष्ट हुआ है। प्रकृति के अनगढ़ सत्य ने बराबर कवि की दृष्टि का विस्तार किया है। यह जरूर है कि प्रत्येक कवि प्रकृति को उतना ग्रहण करने मे एक-सा समर्थ नही होता और न वह प्रकृति का एक सा उपयोग ही करता है, पर परोक्ष-अपरोक्ष रूप से काव्य में प्रकृति का उपादान होता जरूर आया है। औद्योगिक क्राति के बाद अठारहवीं शताब्दी के अन्त मे यह चिन्ता कुछ प्रकृति-प्रेमियो को जरूर हुई कि अब कदाचित् प्रकृति से अनुराग नही रह पायेगा। कल-कारखानो, पुरजो और उन्ही से बनी चीजो मे घिरा रहकर आदमी एक तरह से अपनी ही बनायी हुई जाली मे घिरे मकड़े की तरह अपने मे ही लीन हो जायगा। इस आशका ने ही प्रकृति के प्रति कवियों को नये ढंग से सोचने की प्रेरणा दी। कुछ कवियों ने इस नयी औद्योगिक चकाचौंध और मनुष्य के कृतित्व के प्रभा-मडल से त्राण पाने के लिये प्रकृति को शरण-स्थल के रूप मे देखा, दूसरे कवियो ने कुछ और आगे बढ़कर प्रकृति को सहज एव शुद्ध जीवन के शिक्षक के रूप मे देखा। इनके विपरीत कुछ ने उसे दुर्भेद्य रहस्य का पर्दा मानकर उसके पार झाँकने के लिये एक चुनौती मानी कि हम उसे चीर दे। कवियो का एक चौथा वर्ग भी था जो प्रकृति के सत्त्व को—चाहे वह निश्चल शान्तिमय हो चाहे उद्दाम आवेगमय—अपने जीवन मे उतारना चाहता था। इन सबसे अलग एक अन्य वर्ग भी सामने आया, जो मनुष्य की नयी सभावनाओ मे प्रकृति को केवल साधन सामग्री के रूप मे देखता था, उसे प्रकृति से कोई राग नही, विराग नही, भय नही, तादात्म्य भी नही, वह प्रकृति मात्र को उपादान सामग्री मानने लगा।

लेकिन इन सबने प्रकृति के प्रति जो भी भाव रखा, वह द्वैत की दृष्टि से प्रभावित था। भारतीय काव्य-परम्परा पर अद्वैत दृष्टिका गहरा प्रभाव रहा है और दृश्य-अदृश्य दोनो प्रकार की सत्ताओ को बिम्बानुबिम्ब भाव मानने पर ही विशेष बल दिया जाता रहा है। मनुष्य के अन्त करण के व्यापारो का प्रतिक्षेप ब्रह्माड के व्यापारो मे और ब्रह्माड मे चलने वाले व्यापारो का प्रतिक्षेप मनुष्य के अन्त.करण पर पड़ता रहता है, यही सिद्धान्त भारतीय सस्कृति

की समस्त अभिव्यंजनाओं में प्रतिष्ठित है। इस मान्यता के अनुसार प्रकृति मनुष्य के जीवन में कोई विलक्षण वस्तु नहीं है। मनुष्य के वे सभी संस्कार, जो सहजात हैं, प्रकृति के विविध उपकरणों में अनुविम्बित हैं। भारतीय परम्परा ने इसीलिये देवताओ की कल्पना भी प्रकृति के ही आकार मे की है। इन देवताओं को प्रकृति का रूप देने के कारण ही, प्राचीन वैदिक सस्कृति वहुदेववादी न रह कर सर्वदेववादी रूप मे परिणत हुई। उसने प्रत्येक स्थल मे, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक व्यापार मे और प्रत्येक समय मे किसी न किसी देवना की प्रतिष्ठापना की। देश-काल के किसी भी अणु-परमाणु को उसने अदेवमय नही रहने दिया। देवमयता के इस विस्तार ने ही समस्त देवताओ मे एकसूत्रता का विचार पनपाया और सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा करायी। प्रकृति इस प्रकार ब्रह्म की नाना अभिव्यक्तियो में से एक अभिव्यक्ति हुई। भारतीय कला ने प्रारम्भ से ही प्रकृति के इस प्रतिविम्ब-भाव को मनुष्य जीवन की उच्चतम अभिव्यक्ति के लिये सबसे प्रकृष्ट उपाय माना, और उसकी शिल्पविधि मे कल्पवल्ली, कमलपट्टिका, फूलो-फलो से अवनमित डाल,पशु पक्षी-अभिप्राय उपयोजित हुए। भारतीय साहित्य मे भी कवि-समयो मे, कथावस्तु की रचना मे, रस की विभावना मे और मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यजना मे प्रकृति का प्रयोग अत्यधिक मात्रा मे हुआ।

इस प्रकार प्रकृति के प्रति भारतीय और पश्चिमी दृष्टियो मे मौलिक अन्तर यह नही है कि प्रकृति-प्रेम एक मे कम है और दूसरे में ज्यादा, वल्कि मौलिक अन्तर है प्रकृति और मनुष्य के वीच द्वैत या अद्वैत सम्बन्ध रखने मे। यही कारण है कि पश्चिमी कवियो का प्रकृति-वर्णन बहुत पारदर्शी और ब्योरेवार होता है, जबकि भारतीय कवियो का वर्णन वरावर अन्तर्मुखी और सूक्ष्म होता है। वैसे इस नियम के अपवाद दोनो जगह मिलते है और आज के युग मे जब पूर्व और पश्चिम की सस्कृति मे आदान-प्रदान साहित्य के स्तर पर काफी मात्रा में होने लगा है, तव यह प्रभाव और अधिक वढ गया है। वैसे इसकी शुरूआत रोमाटिक कवियो से ही पश्चिम मे और उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण के कवियों से यहाँ हो गयी थी। पहले हम भारतीय काव्य-

परम्परा का सिंहावलोकन करेंगे ।

प्राचीनतम भारतीय काव्य है ऋग्वेद । ऋग्वेद में प्रकृति के सुकुमार और घोर दोनो रूपो के प्रति एक विस्मयाविष्ट दृष्टि है और देवताओं का जो सबसे प्रथम विभाजन है, वह भी प्रकृति-मूलक है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीन स्थानो मे तीन प्रकार के देववर्गो की स्थापना की गयी है । आकाश मे प्राय जिन देवताओ की स्थापना की गयी है, वे प्रकाश, नैतिक वल, गति, रक्षा, अमृत, स्फूर्ति, सौदर्य एव सत्य के अधिष्ठाता देवता हैं । अतरिक्ष के देवता-मडल मे प्राय भौतिक पराक्रम, आवेग, क्षोभ, सघर्ष एव पार्थिव जगत् को अभिभूत करने वाले मनोभावो के देवता हैं । पृथ्वी मे अधिष्ठान बनाने वाले देवताओ मे तृप्ति, क्षमा, मैत्री, सौमनस्य एव आत्मीयता के आकार ग्रहण करने वाले देवता हैं । इसीलिये कवि-कल्पना की सबसे ऊँची उडान आकाश मडल की देवी उषा के वर्णन मे है, वीर काव्य की प्रेरणा अतरिक्ष के देवताओ के सरदार इन्द्र के आवाहन मे है और घर का-सा वातावरण पृथ्वी, अग्नि या नदी देवता के वर्णन मे है । आदित्यो की उपासना ने ही वैदिक संस्कृति को नैतिक और आध्यात्मिक गुणो के प्रति विशेष ममतामयी बनाया, और उनमे विष्णु देवता कालक्रम मे सबसे बडे देवता हुए, पर वैदिक सस्कृति का पार्थिव प्रेम कभी भी कम नही हुआ । इसी कारण वैदिक ऋषि ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक उडान लेकर भी शैली का चडूल न होकर "वर्ड्सवर्थ" का चडूल वना रहना चाहता था । और इसीलिये उसने विष्णु का सम्बन्ध पार्थिव देवता लक्ष्मी से जो जल से सभूत थी, कराया । इसी प्रकार अतरिक्ष के देवताओ मे सबसे अधिक भयंकर रुद्र जव शिव रूप मे परिणत हुए तो उनका भी परिणय वैदिक सस्कृत के अंतिम चरण मे हैमवती उमा से करवाया । इस प्रकार प्रारम्भ से ही भारतीय काव्य मे आकाश और पृथ्वी, जड और चेतन, एव दृश्य-अदृश्य के वीच सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की जाती रही है । यहाँ तक कि मनुष्य जीवन मे सामाजिक एव पारिवारिक दोनो स्तरो पर सन्तुलन एवं समरसता स्थापित करने वाले विवाह-सस्थान की भी प्रेरणा उन लोगो ने सूर्या के विवाह से ली । अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त मे इसे इस प्रकार सकेतित किया गया है—

"हे पृथ्वी ! पूर्व काल में तुम्हारी गन्ध कमल में सन्निविष्ट हुई जिसे देवनाओं ने सूर्या के विवाह में भेंट दी। तुम उसी गन्ध से मुझे सुरभित करो, जिससे मुझसे कोई द्वेष न करे।"[१]

उपनिषदो की मधु-विद्या तो निश्चित रूप से प्रकृति से रस-ग्रहण की चरम परिणति है। आरण्यको एव उपनिषदो मे यद्यपि साक्षात् रूप से प्रकृति-वर्णन के प्रसग बहुत कम मिलेगे, पर उनकी रचना-प्रक्रिया पर अरण्य की प्रकृति इस प्रकार छायी हुई है कि साक्षात् वर्णित न होते हुए भी उस प्रकृति की मुक्त एवं विश्वस्त अन्तरात्मा हर एक मन्त्र के कोने से झाँकती रहती है। उपनिषद् के प्रवक्ता ऋषियो मे ऐहिक सम्पत्ति के प्रति गहरी उदासीनता पर साथ ही मनुष्य मात्र क्या प्राणिमात्र के प्रति गहरी सवेदना है, इन दोनो के मूल मे वन्य प्रकृति का दर्शन ही मुख्य कारण है। वन के प्रति इस आकर्षण ने ही भारतीय काव्य मे तप की आग धधकायी; निर्वैर, निर्मत्सर एव निष्कारण स्नेह की रसधार बहायी, और विवेकमय श्रद्धा एव विश्वास के परिशोधित वातावरण की रक्षा की। वन की प्रकृति मे सत्य के अव्याकृत रूप की परछाई उन्हे दिखी थी, इसीलिए उस वातावरण मे रहते हुए वे सत्य की तलाश अनथक रूप मे निरन्तर कर सके। असुरो की नगर-प्रधान सस्कृति के सम्पर्क मे आने के बाद भी भारतीय ऋषियो की आरण्यक दृष्टि नही बदली। इसका मुख्य कारण यह था कि वे अरण्य मे रहते हुए भी घोर इन्द्रिय-निग्रह के मार्ग पर नही चलते थे, बल्कि वहाँ भी गृहस्थाश्रम के आश्रम का निर्वाह करते थे। वही ब्रह्मचारियो की शिक्षा का सचालन होता था, और वही बैठकर समाज की नीति की रचना भी होती थी। इसलिए उनका जीवन ससार की कल्याण भावना से ओत-प्रोत होने के कारण असामाजिक या लोकविलक्षण नही था। उनके जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा थी। यह सही है कि वे आसक्ति के बधनो से बहुत कुछ मुक्त थे, पर वे वरागी न थे। उनका राग बडा व्यापक था। प्रकृति प्रेम उनके जीवन का अंश न होकर अगी था। उनके जीवन का समस्त उपादान

१ यस्ते गन्ध· पुष्करमाविवेश य सजभ्रु: सूर्याया विवाहे।
अमर्त्या· पृथिवी गन्धमग्ने तेन मा सुरभि कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥

प्रकृति के द्वारा दिये गये थे। ऋषि-पत्नियों और ऋषि-कुमारियों के समस्त शृंगार वन के फूलों और पत्तो से होते थे। उनके उल्लास की घड़ी प्रकृति से मिली हुई थी। कालिदास ने शकुन्तला के वर्णन मे उसी अरण्य-परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

"—शकुन्तला वृक्षों को पिलाये बिना स्वय जल नहीं पीती थी और अलकार का शौक रखते हुई भी नये पल्लव तोडने की बात नहीं सोच पाती थी। पेड़ो मे पहले फूल जब आते थे तो उसके लिये उत्सव का दिन होता था। वह इस प्रकार पेडो की बेटी बन गयी थी कि पति के गृह जाते समय उसे उनसे अनुमति लेने की ज़रूरत जान पड़ती थी।"[१]

इसी प्रभाव के कारण भारतीय अनुष्ठान विधि मे प्रकृति का और उसके उपादानो का बहुत बड़ा महत्त्व है। कलश-स्थापना मे समस्त नदियों के जल भरने की कल्पना कलश के अन्दर सप्तधान्य रखने की कल्पना, कलश में सर्वौ-षधि छोडने की विधि, कलश के ऊपर पचपल्लव रखना, कलश मे सप्तमृत्तिका छोडना और कलश को चारो ओर से यवाकुरो से गोठना, यह समस्त योजना प्रकृति की उस समग्र सत्ता को स्मरण करने की योजना है, जिसके हम ऋणी हैं। इसी प्रकार पूजा या हवन के उपादानो मे जिन द्रव्यो का उपयोग होता है वे भी प्रकृति की ही भेट होते है। पुष्प, दूर्वाकुर, ऋतु-फल कदली-स्तम्भ, पान, सुपारी, नारियल, हल्दी एव समिधा इन सभी की व्यवस्था मे जिस विविधता और प्रतीक सार्थकता से काम लिया गया है, वह प्रकृति के जीवन से तादात्म्य स्थापित किये बिना सम्भव नही है। हम इनके ब्योरे मे न जाकर इतना ही इगित करना चाहेगे कि भारतीय अनुष्ठानविधि मे जल, अक्षत एवं फूल का महत्त्व सबसे अधिक है। जल को बराबर सृष्टि का आदिभूत तत्त्व मानकर और जीवन की निरन्तरता का, प्रवाह-शुद्धता और स्वच्छता का प्रतीक

१ पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेपु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये व कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव
सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्॥

मानकर उपयोग किया जाता है। फूल का उपयोग मन के आमोद को आकार देने के लिये तथा देवता की सुरुचि की तृप्ति देने के लिये किया जाता है। अक्षत, जो प्रकृति और मनुष्य के सहयोग का परिणाम है और जैसा उसके नाम से ही द्योतित है, धान का अविकल अक्षत सार है, वह मनुष्य के विवेकमय उत्सर्ग तथा उसकी उर्वर रचना शक्ति का मूर्त रूप है। कुछ संस्कृति-मीमासको का यह विचार है कि भारतीय अनुष्ठान मे फूलों का महत्त्व कोल सस्कृति का दान है और जल का महत्त्व द्रविड सस्कृति का है, अक्षत वैदिक सस्कृति का है। हम इस विश्लेषण की मीमासा मे न जाकर मात्र इतना ही इस परिस्थिति-विशेष के लिये नगन समझेगे कि भारतीय जीवन मे प्रकृति का एक सांस्कृतिक मूल्य है। इसी कारण सस्कृति के कुछ तत्त्वो के रूढिवद्ध हो जाने से प्रकृति के साथ हमारा सम्बन्ध कुछ माने मे रूढिवद्ध हो चला है और रूढि के बन्धन से अपने को मुक्त न कर सकने वाले कवियो मे उस रूढिवद्ध सस्कृति-प्रेम का परिचय अब भी मिल जाता है। यह सही है कि समाज के यान्त्रिक वातावरण मे सस्कृति की बहुत सी मान्यताओ को अत्यन्त निर्मम एव तथाकथित बौद्धिक दृष्टि ने चीरकर फेक देने की कोशिश की है, तब भी हम मे से प्रत्येक के मन से जो उस संस्कृति की सबसे महीन और सुरीली आवाज चाहे क्षण के लिये ही क्यो न हो पर जो गूँज ही जाती है, उसमे हम उस सस्कृति को प्रकृति से अलग नही रख सकते।

परम्परा की इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि के वाद हम काव्य मे प्रकृति-वर्णन के प्रस्तुत विषय पर आते है। लौकिक काव्य का प्रारम्भ वाल्मीकि के रामायण मे माना जाता है। रामायण का रचनाकार और उसका परिवेश स्पष्ट रूप से ही अरण्यमय है। रामायण का कवि प्रकृति के शान्त, निरुद्विग्न और निष्कामतृप्त रूप का चितेरा है। इसीलिए उसके वर्णनो मे सवसे शक्तिशाली वर्णन शरत् के है या चन्द्रमा के है या हेमन्त के है या स्तिमित वन के है। शरत् के आकाश को सान पर चढायी हुई तलवार की तरह निखरा वतलाना;[१]

---

१ व्यभ्र नभ शस्त्रविधौतवर्णाम्।

चन्द्रमा को आकाश के गोठ में विचरण करने वाला अलमस्त साँड़ कहना[१] और कुहरे से ढँके चन्द्रमा को उसाँस से अँधराये दर्पण की तरह कहना[२] कवि की सूक्ष्म दृ्ष्टि का प्रमाण है। कवि प्रकृति के स्थिर सौन्दर्य मे इतना रसमग्न रहने वाला था कि उसे इस स्थिरता मे तनिक भी वाधा वरदाश्त नही होती थी। कदाचित् इसी कारण उससे रहा न गया जब उसने देखा कि चकई-चकवे के निर्भय रति मे वाधक वनकर एक वहेलिया चकवे को वींध रहा है और उसकी वाणी आक्रोश से भर उठी—

"जाओ तुम्हे अनन्त काल तक हे वधिक शान्ति नही मिलेगी।"[३] कहीं-कहीं कवि ने जव जमकर वातावरण का वर्णन देना शुरू किया है तो लगता है कवि कथा को भूल गया। वाल्मीकि के वर्णन से प्रकृति के दो उपयोग हैं, एक तो विम्वविधान की प्रेरणा के रूप मे और दूसरे शुद्ध वातावरण की रचना के रूप मे। उनके काव्य की मुख्य देन दूसरे प्रकार उपयोग मे ही है। एक तरह से भारतीय काव्य मे प्रकृति का वातावरण देने की परम्परा वाल्मीकि से शुरु होती है। विम्वविधान का इतिहास तो वाल्मीकि से निश्चित ही पुराना है। वाल्मीकि के वातावरण वहुत सजीव और विशद है। समासोक्ति या अप्रस्तुत-प्रशसा के उपयोग से अनभिज्ञ न होते हुए भी उन्होने यथासम्भव इस प्रकार के सश्लिष्ट योजना वाले अलकारो से वचने की ही कोशिश की है। उनका वर्णन यथार्थ के अधिकतर समीप होते हुए भी फोटोग्राफी सा नही दिखता है, कदाचित् इसलिए कि वह वर्णन मात्र पृष्ठभूमि के लिये ही उपयोजित हुआ है। अनावश्यक रूप से अप्रसगवश प्रकृति वर्णन करना कवि का अभिप्राय नही है, इसीलिए उन्होने प्रकृति के निर्मल चित्र से धुली स्लेट का काम लिया है। वाल्मीकि ने विम्वविधान की दृष्टि से सौन्दर्य के जिन प्रतीको का उपयोग किया, वे प्रतीक उनके काव्य मे तो ताज़गी ज़रूर रखते है, पर परवर्ती काव्य मे अतिप्रयोग मे वे क्रमश अपनी अर्थवत्ता खो वैठे। वाल्मीकि के काव्य मे इन

१— गोष्ठे ककुद्मानिव।

२— निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।

३— मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।

प्रतीकों का बराबर दुहराया जाना इसलिए नहीं अखरता कि यह काव्य कथा-वाचन के लिये ही प्रस्तुत किया गया था। इसमें पुनरावृत्ति से अर्थ में प्रभाव-वत्ता और स्पष्टता अधिक आती है।

वाल्मीकि के काव्य से प्रभावित श्रीमद्भागवत में प्रकृति-वर्णन की एक नयी परम्परा का उत्कर्ष दिखलायी पड़ता है। प्रकृति-वर्णन को चित्तवृत्तियों के प्रति आकृष्ट देखने की कल्पना श्रीमद्भागवत की नयी देन है। इस काव्य के दशम स्कन्ध में वर्षा और शरत् के वर्णन में दर्शनशास्त्र से उपमान लिये गये हैं। उदाहरण के लिये—

धनुर्वियति माहेन्द्र निर्गुं च गुणिन्यभात्।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान्पुरुषो यथा॥

[बिना गुण (डोरी) का इन्द्रधनुष गर्जनादि गुणों से युक्त आकाश में इस प्रकार सुशोभित होने लगा जैसे गुणक्षोभ से होने वाले प्रपंच में निर्गुण पुरुष विराजता है।]

न रराजोडुपश्छन्न स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनै।
अहमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥

[अपनी ही कान्ति में शोभायमान बादलों से ढका हुआ चन्द्रमा इस प्रकार शोभित नहीं होता, जैसे अपने ही आभास से आभासित अहंकार से आच्छन्न हो कर पुरुष प्रकाशित नहीं होता।]

सर्वस्व जलदा हित्वा विरेजु शुभ्रवर्चस।
यथा त्यक्तैषणा शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विषा॥

[मेघगण अपना जलरूप सर्वस्व त्याग देने पर शुभ्र कान्ति से सुशोभित होने लगे जिस प्रकार कि त्रिविध एषणाओं का त्याग कर देने पर पापहीन और शान्त स्वभाव मुनिजन विराजते हैं।]

शनै. शनैर्जहु पक स्थलान्यास च वीरुध।
यथाहममता धीरा शरीरादिष्वनात्मसु।

[पृथ्वी कीचड़ को और लताएँ अपने कच्चेपन को धीरे-धीरे इस प्रकार छोड़ने लगी, जैसे धीर पुरुष शरीर आदि अनात्म पदार्थों में धीरे-धीरे ममता

और अहता को छोड देते है ।

श्रीमद्‌भागवत के गीतो मे श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का सम्मोहन प्रकृति के विविध तत्वो के ऊपर जहाँ दिखलाया गया है, वहाँ कवि ने अद्‌भुत कल्पनाशक्ति से काम लिया है । नदियाँ वेणु का रव सुनकर आवर्तो के द्वारा आवेग प्रकट करके फिर प्रेम-शिथिल हो जाती है और आलिङ्गन के लिये फैलायी हुई लहरों की बाहो मे श्रीकृष्ण के चरण गहने की कोशिश करती है ।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत—
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे—
र्गृह्णन्ति पादकमल कमलोपहारा ॥

यह वेणु-रव जो गतशीलो को निष्पन्द करने वाला और निश्चल तरुओ को पुलकित करने वाला था, गायो तक को अपनी ओर इस तरह आकर्षित कर लेता था कि वे चारा दाँत मे लिये चित्रलिखित सी खड़ी रह जाती थी और बादल मानो उसका साथ देने के लिये मंद-मद गर्जन करता था । इन दोनों दिशाओ मे प्रकृति के प्रति एक विराट् सृष्टि का विस्तार हुआ ।

कालिदास, बाणभट्ट और भवभूति के काव्य मे प्रकृति के प्रति ऐसी ही दृष्टि का परिचय मिलता है । इन तीनो कवियो ने अपने-अपने ढग से मनुष्य की सवेदना मे प्रकृति को साझीदार बनाया है । कालिदास का मेघदूत तो पृथ्वी की आकाक्षा का गतिशील रूपान्तर हैं । इसी माने मे कालिदास वाल्मीकि से विशिष्ट है कि वे प्रकृति के उच्छल और क्रीडाशील रूप के कवि हैं, वाल्मीकि की तरह स्थिर सौन्दर्य के नही । कालिदास ने ब्योरे मे जाने की कोशिश कभी नही की और वातावरण का बहुत सक्षिप्त सा अश उन्होने अपने काव्य मे स्थान-स्थान पर रखा है । उनके इस सयम के कारण ही प्रकृति का जो रूप उनके काव्य मे उतरा, वह बहुत पानीदार और बाँका है । चाहे विषम उपलो मे रिस-रिस कर बहती हुई नदी का चित्र हो, चाहे पहाड़ के नीचे सारी के छोर की तरह दिखने वाली नदी का चित्र हो, चाहे छोटे सी बामी का चित्र हो, या अमराई से ढँकी हुई पहाड़ी का या देव-वनिताओ के

दर्पण बने कैलाश का, चाहे शैवाल का चित्र हो, चाहे कमल का, और चाहे विजलियो के आवेग का चित्र हो, या सवेरे की ओस भरी निष्कम्प वनस्थली का; कवि की दृष्टि एक सी स्वच्छ और समग्र है। कालिदास की प्रकृति मनुष्य की सत्ता से खडित करके देखी ही नही जा सकती। शकुन्तला के सौन्दर्य की रचना तव तक अधूरी रहती है, जवतक कि ऊँचे हिमालय की धुँधली हिमपक्ति मालिनी के किनारे वृक्षों पर सुखाये जाते हुए वल्कल, मालिनी के पुलिन में विहार करती हुई हसो की जोड़ी और पेड़ो के नीचे अपने प्रिय की सीग से आँख खुजलाती हुई मृगी, कि इस वातावरण मे वह नही रखी जाती और जवतक कि उसके कानों मे गाल तक लटकने वाला शिरीष का फूल नही खोंसा जाता और उसके स्तनो के वीच शरत् के चन्द्रमा की किरण की तरह कोमल मृणालसूत्र नही रखा जाता। इसी तरह भवभूति की सीता और वाण की महाश्वेता अपने चरित्र को उज्ज्वलता के समस्त उपादान प्रकृति से पाती हैं। भवभूति की सीता का चित्र उनके द्वारा पाले गये मृग, मयूर, गज-शावक कदम्व के वृक्ष एव सखी वनदेवता वासन्ती, माता सरीखी गगा, गोदावरी, तमसा और मुरला जैसी नदियो के विना अधूरा है। महाश्वेता अच्छोदसरोवर के विना फीकी लगेगी। कालिदास के लिये प्रकृति नयी वहू की तरह सजी हुई कुतूहलमयी, मुग्ध और उल्लसित है। भवभूति के लिये प्रकृति चिरपरिचित सहचरी है। वाणभट्ट के लिये प्रकृति एक विदग्ध कलामर्मज्ञ परकीया की तरह हाव-भाव कुशल होने के कारण उद्दीपक है। पर तीनो के लिये प्रकृति अपरिहार्य है। इनके अलावा संस्कृत के अन्य महाकवियो मे प्रकृति के प्रति जो दृष्टि है, वह वहुत कुछ परम्परा के निर्वाह की होने के कारण हार्दिक एवं स्पष्ट नही है। उनके काव्यों मे प्रकृति के एकाध खंड-चित्र चाहे मिल जाये, मनुष्य जीवन मे अनुस्यूत चित्र नही मिल सकता।

इस परम्परा से कुछ विलग परम्परा लोक-काव्यो की है। वैसे इसका सूत्रपात ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के उन सूक्तो से मानना चाहिए, जिनमे खेतिहर जन अर्थात् सामान्य जन के मनोभावो को चित्रित करने की कोशिश की गयी है और प्रकृति के उस रूप पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, जो इस सामान्य

जीवन को आप्यायित किये रहता है। कृषि, वृष्टि, ओषधि, आप् और पृथ्वी से सबधित सूक्तों मे प्रकृति के इस रूप का परिचय मिलता है। इस लोकधर्म-परम्परा का विकास प्राकृत मुक्तक-काव्य मे और अपभ्रंश मुक्तक-काव्य मे बहुत अच्छी तरह हुआ है। 'गाहा सत्तसई' मे बहुत से ऐसे चित्र सकलित हैं। परवर्ती टीकाकारो ने इनके साथ कही न कही नायक-नायिका व्यापार को जोडने की कोशिश जरूर की, पर वास्तविक रूप मे इन गाथाओ का महत्त्व ग्राम या अरण्य प्रकृति की निर्मल छवि अकित करने मे ही था। विन्ध्य पर्वत-माला से आषाढ मे आकर बिछुडती हुई बादलों की भीड का चित्र है—

"विन्ध्य पर्वत से लगे बादल उससे अलग होते समय ऐसे मिलते हैं मानों वे किसी नवरसाते पेड की पुरानी छाल हो।"

एक स्थिर सौन्दर्य का चित्र है—

'पुरइन के पत्ते पर निश्चल और निष्पन्द बैठी हुई बगुली ऐसी लगती है, मानो मरकत के पात्र मे रखी हुई शख की सुतुही हो।"

हेमन्त मे उजडे हुए पुराने बरगद वृक्ष की दुर्दशा का कवि स्मरण कर रहा है—

"बरगद की जटाएँ एक-एक करके जड से टूटती जा रही है, उनके नीचे उपले सुलग रहे है, धुएँ से पेड़ भूरा हो उठा है और तने पर गोबर के कडे पाथने से पेड के रोम-रोम मे गोबर की गन्ध व्याप्त है। यह बूढा बरगद का पेड इस हेमन्त ऋतु मे अपनी चरम दुर्दशा को पहुँच गया है।"[1]

दूध लेते हुए अगहनी के खेत को देखकर किसान की खुशी कैसी होती है—

"जैसे कोई दूध पीते बच्चे को घुटनो के बल पक मे लिपटते देखकर उल्ल-सित हो जाता है, वैसे ही किसान जब अगहनी के खेत को जमीन मे लोटते देखता है और लोटने के कारण जब उस खेत मे गहरी पाँक का आभास पा

१ ज्जइसूइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण।
धमकविलेवा परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण॥

जाता है तो आह्लादित हो उठता है।[1]

धान की गन्ध ने सस्कृत के एकाध कवियो का ध्यान खीचते समय राजशेखर ने वेनित्रार के ऑगन का वर्णन करते हुए नये धान की दूर तक उडने वाली गन्ध का स्मरण किया है।[2]

इन लोकधर्मी काव्य की ही परम्परा मे ऋतुओ के गीत और सस्कारों के वे गीत आते है जिनमे खेतिहर जीवन से उर्वरता की स्फूर्ति ली गयी है। भारत की प्रत्येक जनभाषा मे ऐसे गीत मिलते है। इन गीतो मे प्रकृति-जीवन के मापदड के रूप मे आती है। समय का आकलन वर्षो मे नही किया जाता, बल्कि जो पेड प्रिय ने ऑगन मे लगाया था, वह फल-फूल से झपस उठा, इस वर्णन के द्वारा कराया जाता है। समृद्धि की कामना का चित्र चन्दन की चौकी, फलो से लदी आम की डाल और ताल मे लहराने वाली पुरइन के बिना पूरी नही हो पाता। कौए तक प्रिय के आने का सगुन उचारते है, गौरैया वशवृद्धि का आशीर्वाद देती है और मिट्टी के नये सकोरे मे जज्व होता हुआ पानी प्रिय के साथ तादात्म्य प्राप्त करके सुख देता है, ऋतुओ के बदलते हुए चक्र विरह को नाना मोड़ देते है और प्रिय से मिलने की नयी आकुलता उपजाते है। नदी की एक-एक लहर विश्वास है, जगल का हर एक पछी ममता है और बाग का हर एक पेड रक्षक है।

बहुविध परम्परा के संदर्भ मे जब हम हिन्दी काव्य के विभिन्न युगों में आते है तो हमे हिन्दी के पिछले युगो मे प्रकृति के प्रति जहाँ एक ओर बहुत रूढिबद्ध दृष्टि मिलती है और वही कुछ कवियो मे बिम्बविधान के क्षेत्र मे प्रकृति के प्रति सर्वथा नूतन दृष्टि भी मिलती है। वैसे सर्वांश मे यह सच न भी

१ पङ्कमडलेण छीरेकपाडणा दिण्णजाणुवडणेण।
आणन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेणव्व सालिच्छेत्तेण॥

२ गेहाजिरेषु नवशालिकणावपातै-
र्गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम्।
आनन्दयन्ति मुसलोल्लसनावघात-
प्रेङ्खत्ववणद्वलयपद्धतयो वधव्य॥

हो तो अधिकांश भक्त हिन्दी-कवियो के बारे में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वे प्रकृति-वर्णन की रूढि से परिचित थे, प्रकृति के वास्तविक महत्त्व से नही। प्रकृति-वर्णन या तो सस्कृत कवियो के अनुवाद है या इतने अयथा और अनुपयुक्त हैं कि उन्हे पढकर कभी-कभी खीझ होती है। वसन्त मे खिलने वाले तमाम फूलो मे आम, पलाश, अनार, कचनार और मालती को छोड़ कर किसी ने दूसरे फूलो की सुधि नही ली। कालिदास ने कुरवक को वसन्त का शृगार माना था, शिरीष को ग्रीष्म का, कदम्ब को वर्षा का; कमल को शरत् का, कुन्द को हेमन्त का और लोध को शिशिर का शृगार माना था। पर विविधता की ओर इन लोगो की दृष्टि ही नही थी। उनके लिये सारा जगल पलाशमय, सारा उपवन रसालमय और सारे सरोवर नलिनमय थे। ऋतुओ की गति से भी ये अपरिचित से थे। वसन्त और वर्षा के वर्णन मे ये अधिक डूबे हुए थे, इनके लिये प्रकृति मात्र उद्दीपक थी और उद्दीपन भी केवल शृगार की।

आधुनिक युग के प्रारम्भ मे पद्य से अधिक गद्य के माध्यम से प्रकृति-वर्णन के बडे सुथरे चित्र सामने आये। ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा-स्वप्न', बद्रीनारायण चौधरी की 'आनन्दकादम्बिनी' के सम्पादकीय और माधव मिश्र तथा पूर्णसिह के निबन्ध प्रकृति के ऐसे चित्र उपस्थित करते है कि उनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इनके लिये प्रकृति उद्दीपन न होकर आलम्बन थी—बल्कि आलम्बन से भी ऊपर जाकर साक्षात् रस-भूमि तक पहुँची हुई थी। प्रकृति के लिये इस नये समुच्छ्वास का प्रभाव रामचन्द्र शुक्ल, श्रीधर पाठक और सुमित्रानन्दन पन्त के ऊपर बहुत गहरा पडा। प्रकृति के प्रति दृष्टि मे अन्तर मुख्यत. तीन कारणो से आये—पहला तो विदेशी कविता का, विशेष रूप से रोमाण्टिक युग की कविता का प्रकृति की ओर जाने का आन्दोलन था, दूसरा प्राचीन सस्कृत काव्य के प्रति विदेशियो द्वारा ध्यान दिलाये जाने पर उनके नये ढङ्ग से मूल्याङ्कन का प्रभाव था, और अन्तिम कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के सहचर के रूप मे भारत की प्रकृति के प्रति विशेष रूप से वात्सल्य की भावना का उमगाव था। द्विवेदी-युग में गद्य क्षेत्र में प्रकृति-वर्णन की रंगीनी

बहुत हद तक नियन्त्रित हुई। इसका कारण मुख्य यह था कि प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ जो स्थानीय शब्द के प्रयोग सहज रूप मे आ जाते थे, उनको द्विवेदी-युग के नियामक 'पण्डिताऊ' या 'ग्राम प्रयोग' कहकर दाग देते थे। लोग इसी से बहुत सूफियाना ढङ्ग पर ही प्रकृति का वर्णन करने के लिये प्रस्तुत होते थे। द्विवेदी जी के अनन्यतम मित्र श्रीधर पाठक प्रकृति-वर्णन की द्विवेदी कसौटी पर इसीलिए बहुत खरे उतरते थे। उस युग मे दो नाम ऐसे हैं, जो अब बहुत विस्मृत-से है, पर इन्हे प्रकृति की सन्तान कहे तो अनुचित न होगा। एक तो ब्रजवासी सत्यनारायण 'कविरत्न' और दूसरे बुन्देलखण्ड के कवि घासीराम व्यास। वैसे बुन्देलखण्ड मे बुन्देली भाषा के माध्यम से लोक-प्रचलित छन्दो मे गगाधर व्यास और ईसुरी ने भी बुन्देली प्रकृति के चित्र सहज ढङ्ग से उतारे हैं, पर उनकी योजना अधिक सश्लिष्ट है। सत्यनारायण 'कविरत्न' और घासीराम व्यास एक तरह हिन्दी मे आञ्चलिक चित्रण के जन्मदाता हैं। द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले कवि मैथिलीशरण गुप्त उस युग के लिये एक आश्चर्य इस दृष्टि मे जरूर है कि वह अपने ही सम-कालीन, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' की तरह प्रकृति के वर्णन की परि-गणनात्मक पद्धति न अपनाकर प्रकृति का भावात्मक रूप सामने रखते है। मैथिलीशरण गुप्त से भी अधिक सुकुमार प्रतिक्रिया, प्रकृति ने सियारामशरण गुप्त के काव्य मे पायी है।

इस युग का समाज जिस युग को छायावाद युग कहता है, वह वस्तुतः इतिवृत्तात्मक काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग है। प्रतिक्रिया-युग होने के कारण ही वह बहुत क्षणिक, पर तीव्र प्रभाव वाला रहा है। इस युग मे प्रकृति का उपयोग सबसे अधिक बिम्ब-विधान क्षेत्र मे हुआ। सिद्ध प्रकृति-वर्णन पन्त के काव्य मे है या 'प्रसाद' और 'निराला' के कुछ थोड़े से गीतो मे। महादेवी वर्मा के काव्य मे प्रकृति को काव्य-बिम्बो के एक निधि मात्र के रूप मे देखा गया है। उसमे भी नूतनता लाने की कोशिश उतनी नही की गयी है, जितनी पूर्वगृहीत बिम्बो को अधिक सँवारने की। बिम्ब-विधान की दृष्टि से इस युग के सबसे समर्थ कवि 'निराला' है। इसी युग मे माखनलाल चतुर्वेदी

का भी नाम आता है, जिन्होंने [illegible] की प्रकृति को [illegible] अभिव्यक्ति देने की पूरी सफल चेष्टा की है। उनके प्रकृति-वर्णन सरस, [illegible] हैं। समग्र दृष्टि से देखने पर, इस युग के अधिकतर कवियों में प्रकृति के प्रति [illegible] हो रही है और प्राकृतिक जीवन को एक अलग दुनिया के ही रूप में देखा है। उनके लिये प्रकृति आत्मीय न होकर दूर की वस्तु है। वह स्नेह की [illegible]-वस्तु न होकर विस्मय या श्रद्धा की [illegible] है।

अब हम जब नयी कविता के युग पर दृष्टि डालते हैं, तो प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन पाते हैं। इस परिवर्तन के आन्तरिक कारण तो ये हैं, पहला, छायावाद की [illegible] कृत्रिमता से स्वयं छायावादी कवि ही ऊबने लगे थे, दूसरा आन्तरिक कारण संगीतात्मक शब्दों और अनुनासिक लयों की अतिशय मधुरता से उकताहट थी, तीसरा आन्तरिक कारण अनु-भाव्य संस्पर्श के लिये आदृश्य संस्पर्श की अपेक्षा अधिक बेचैनी का आना था और अन्तिम आन्तरिक कारण प्रतिक्रिया की तीव्रता की समाप्ति होने पर सहज अथवा सर्वग्राही अनुभव और अभिव्यक्ति के लिये पर्युत्सुक होना था।

आन्तरिक कारणो से भी अधिक महत्त्व वे बाह्य कारण रखते हैं, जो काव्य-प्रतिक्रिया से साक्षात् सम्बन्ध न रखते हुए भी कवि के परिवेश से सम्बन्वित होने के कारण नयी दृष्टि ला सके है। बौद्धिक क्षेत्र मे सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो इस युग मे हुआ है, वह है प्रश्नाकुलता का हरएक क्षेत्र मे विस्तार। प्रकृति-वर्णन के भी क्षेत्र मे इसके कारण नये अन्वेषण किये गये हैं—कोयल और पपीहे के अलावा कुररी, पिड़कुल, हारिल जैसे पक्षियो की भी सुधि ली गयी है। फूलो मे बाजरे, बबूल, बौंडर, अमलतास और साल जैसे फूलो मे भी आकर्षण देखने लगे हैं। यहाँ तक कि हर अच्छी-से-अच्छी घास, हर रात की हर एक करवट, और रग की हर छटा को काव्य मे देने के लिये होड़-सी मच गयी है। कहीं-कहीं असमर्थ और दिखाऊ कवियो के हाथो में पड कर बहुत उपहासास्पद स्थिति सामने आयी है। पर वशीधर शुक्ल, भवानी-प्रसाद मिश्र, ठाकुरप्रसाद सिंह जैसे आरण्यक कवियो ने प्रकृति के यथार्थ और अत्यन्त हृदय-स्पर्शी चित्र खोजे है। भवानीप्रसाद विन्ध्य की प्रकृति के पारखी

हैं, वशीधर शुक्ल अवध की देहाती प्रकृति के और ठाकुरप्रसाद छोटा नागपुर की प्रकृति के। दूसरी बौद्धिक स्थिति बिखराव की है। इस बिखराव के कारण ही नये कवि प्रकृति से जब एक बिम्ब लेना चाहते है तो उन्हें उसके विरुद्ध या उसके तुल्य अनेक बिम्ब याद आ जाते है और वे अपने इन तमाम बिम्बो को बहुत बिखेर कर काव्य मे रखते हैं। सागरूपक या पूर्ण उपमा की भाषा मे कवि इसीलिए नही बात कर पाता। वह अधिकतर रूपकातियोक्ति, समासोक्ति, पर्यायोक्ति और अप्रस्तुतप्रशसा आदि सूक्ष्म अलकार की भाषा बोलने का आदी हो गया है। वह जब साँझ के बादल का चित्र खींचेगा तो बिना किसी बादल और उसके बदलते रगों का नाम लिये उन्हे एक बहुत ही समर्थ बिम्ब से व्यक्त करेगा।

ये अनजान नदी की नावे
जादू के-से पाल
उड़ाती
आर्ती
मन्थर चाल।
नीलम पर किरनो
की साँझी
एक न डोरी
एक न माँझी
फिर भी लाद निरन्तर लाती
सेन्दुर और प्रवाल।

(धर्मवीर भारती)

इसी बिखराव के कारण वह अपने विकीर्ण अनुभव और प्रकृति के चित्र मे जोड़े देखता चलता है।

इजन के हेडलाइट-सा शोर-गुल के बीच
सूरज निकल गया;

गाडी की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब
शुक्र तारा जा रहा है।

( मदन वात्स्यायन )

या

वसन्त के शहर भर मे
लग गये है नये पोस्टर।
आवारा सीटीबाज
आ गया हमारी शरीफ सड़क कसने आवाज।

( विनोदचन्द्र पाडेय )

इस नि.सगता का इस और परिणाम है, प्रकृति का वैज्ञानिक विवेचन। 'अज्ञेय' की 'बावरा अहेरी' शीर्षक कविता मे प्रकृति और विज्ञान को अखण्ड रूप मे देखने की कोशिश की गयी है।

बौद्धिक प्रभाव से कम प्रभाव सामाजिक वातावरण का नही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद साहित्यकार के मन मे कम से कम दो आयामो मे संस्कृति को पुनराकलित करने की अपरिहार्यता जान पडती है। एक तो देश का आयाम अब विस्तृत हो गया और प्रकृति देश की मर्यादा से भावना मे अधिक यथार्थ के स्तर पर बँधी रहने लगी। दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन संस्कृति के विस्तृत इतिहास के साथ सयोजन करने के कारण हुआ। इसी के परिणाम-स्वरूप वैदिक साहित्य और प्राचीन भारतीय साहित्य से शक्तिशाली और चिर-नूतन बिम्बो को नये ढग से कविता मे उभारा गया। सुमित्रानन्दन पन्त की 'धेनुएँ' शीर्षक कविता की ये पक्तियाँ ऋग्वेद के छन्द द्वारा बाहर निकाली जाती हुई गायो के वर्णन से तुलनीय हैं—

ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो ?
वशी-रव
तुम्हारे ही भीतर है

ओ फेन-गुच्छ
लहरो की पूँछ उठाये
दौडती नदियो !

प्राचीन काव्य का प्रभाव नागार्जुन की 'वादल' शीर्षक कविता पर, 'अज्ञेय' की 'वहाँ रात' और 'वन्धु है नदियाँ' शीर्षक कविताओ पर, ठाकुरप्रसाद सिंह की 'अण्टादश दीपमाल' शीर्षक कविता पर और भवानीप्रसाद मिश्र की 'सतपुडा के जगल', 'मेघदूत' और 'नर्मदा के चित्र' शीर्षक कविताओ पर बडा गहरा है। नयी कविता के प्रकृति-वर्णन मे यह विशेपता उसे परम्परा से जहाँ भली भाँति जोडती है, वहाँ पिछली पीढी वाले आलोचको के लिये विल्कुल विद्रोहिणी-सी जान पडती है।

सास्कृतिक वातावरण मे दूसरा परिवर्तन शहरो की वढती के, वेतरतीव वसने और गाँवो के उजडने के कारण उपस्थित हुआ है। ये सस्करण जहाँ एक ओर ऊँचे मकानो, धूल-भरी सडको और कोलाहल-भरे माइक्रोफोन से त्राण पाने के लिये छोटे-से कोने मे गमलो या चार हाथ जमीन मे हरियाली और खुशवू के साथ चुपचाप कुछ क्षण देने को विवश कर देते है, वही दूसरी ओर देहात मे पले लोगो के मन मे गहरा विक्षोभ भी भर देते है, उन शक्तियो के प्रति जो उन्हे उजाड रही है। इसके कारण अनाम से अनाम फूल भी अव कविता मे नाम और आकार पाने लगे है। उडिया मे 'अमृत सन्तान', वगला मे 'पथेर पाँचाली' और 'आरण्यक', हिन्दी मे 'कचनार', गुजराती मे 'सोरठ तेरा वहता पानी' और कन्नड मे 'देहाती समाज' जैसे उपन्यास तो समूचे ही देहात या जगल के जीवन को ही वातावरण वनाकर लिखे गये है। इधर हाल मे हिन्दी मे फणीश्वरनाथ 'रेणु' और नागार्जुन ने तो आंचलिक उपन्यासो की एक लहर-सी उठा दी है। काव्य-साहित्य मे भी विभिन्न जनपदो मे आचलिक प्रकृति के चित्र इसी सवेदना से प्रेरित होकर रचे गये। इन गीतो मे स्वप्नमय वातावरण का गहरा रग है। इसी से इनकी नकल भी वहुत मनमाने ढग से हुई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि वेला, तुलसी, नीम, आम, ववूल, सरसो, कास और महुआ की घोर दुर्दशा होने लगी है। इन नामो को अव

जादू के मन्त्र की तरह से कविता मे प्रयोग किया जाने लगा है। नव भी वुदेली मे वशीधर पण्डा के स्मृति-गीत, अवधि मे वशीधर शुक्ल के चित्र, भोजपुरी मे विसराम के विरहे, खडी बोली मे ठाकुर प्रसादसिंह के सन्थाली चित्र, केदारनाथ अग्रवाल के खेतिहर जीवन के चित्र काफी हृदयस्पर्शी है। शहर के वातावरण से अभिभूत कवियो ने प्रकृति के बडे नन्हे और सुकुमार रूपो मे आह्लाद का कण खोजा है। कोई हरी घास पर क्षण-भर सार्थकता मानता है, तो कोई कचनार की कली की कनखियो मे सब कुछ पा जाता है, किसी को पत्तियाँ मनाने के लिये विवश कर देती हैं, कोई गौरैया मे भी उत्फुल्लता का उत्कर्ष पा जाता है तो कोई नागफनी मे भी सघर्ष मे हँसने की क्षमता खोज लेता है। खेतिहर और औद्योगिक, नगर और ग्राम्य जीवन के बीच छिड़े सघर्ष से रूमानी तबियत वाले कवियो मे खँडहरो, टीलो और जगलो के बीच इतिहास की रथ-यात्रा निकालने की स्फूर्ति भी जागने लगी है। गिरिजाकुमार माथुर की कविता मे इसके बहुत सफल उदाहरण है।

तीसरा सास्कृतिक परिवेश आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है, विशेष रूप से कवियो के। काव्य के प्रयोग मे बुद्धिजीवियो की सख्या अधिक है, उस वर्ग की आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव काव्य-रचना पर किसी-न-किसी प्रकार से पड़ता ही है। अर्थ-वैषम्य के बीच की कडी है मध्यम वर्ग और इसी मध्यम वर्ग को बुद्धिजीवियो को भी पैदा करने का फ़ख्र हासिल है। यह वर्ग क्रमश. टूट रहा है। इसके कारण अर्थवैषम्य और ऊँचा होता चला जा रहा है। इसकी मानसिक प्रतिक्रिया दो तरह से सलक्षित हुई है—एक तो बड़े और अभिजात कहे जाने वाले पदार्थो से विरक्ति और दूसरे अपने मे ही अधिक खोजने की प्रवृत्ति। इसी से सौन्दर्य के पुराने प्रमाण अब बासी-से लगने लगे है। नये प्रमाणो की खोज लोक-साहित्य मे, दूसरे देशो के साहित्य मे और अपने निजी अनुभव मे जारी है। इसके कारण बिम्ब-विधान विलक्षणता काफी मात्रा मे आयी है, जो कही-कही बहुत अटपटी भी लगती है। दूसरी ओर अपने मे ही खोये कवि प्रकृति के प्रति ऐसे विरक्त हो गये है कि उनका अपने आर्थिक या राजनीतिक सिद्धांत के सिवा कविता मे किसी अन्य सत्ता के प्रति कोई रुझान

नही है।

इस प्रकार नयी कविता जहाँ प्रकृति-वर्णन की पिछली परम्पराओ मे अनेक नये तत्त्वो का समावेश करती है, वहाँ वह प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा के समीप भी इस माने मे लगती है कि वह विविधता, पारदर्शिता और उन्मुक्तता मे उससे होड लगा रही है। इसमे खतरे की सम्भावनाएँ उन कवियो से है, जो विम्बो मे वेतरह उलझे हुए हैं, या उनसें जो प्रकृति-विम्बो का प्रयोग विना अर्थ समझे ही करने लगते है, या उन कवियो से है, जो भावावेश मे प्रकृति के साथ अनुराग वढाने की बात करते हुए भी उसे ऐसा अपरिचित और स्वप्नमय प्रस्तुत करते हैं कि उससे प्रकृति की विमुखता की ही आशका उत्पन्न होती है। लेकिन इन खतरे के सकेत समर्थ कवियो में ज्यादा नही है, यह वहुत ही शुभ लक्षण है।

———

# लोक साहित्य की मर्यादा

लोक साहित्य की अलग मर्यादा पहले शायद स्वीकृत न भी रही हो परन्तु आज किसी न किसी रूप मे इसका विशिष्ट स्वरूप सर्वमान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है। वैसे प्राचीन काल से ही गीतो, उक्तियो और कथाओ की दो प्रकार की परम्पराएँ चली आ रही है, एक तो लिपिवद्ध और दूसरी मौखिक, वैसे लिपिवद्ध साहित्य का भी मौखिक पाठ होता आया है, किन्तु शुद्ध रूप से जो मौखिक परम्परा पर आश्रित साहित्य था, उसको लिपिवद्ध करने के प्रयत्न नही किये जाते थे। अधिक से अधिक उद्धरण के रूप मे कभी कभी वे साहित्य ग्रन्थो मे लिपिबद्ध ग्रन्थो मे दे दिये जाते थे। किन्तु यन्त्र-युग ने इसका भी सुभीता हमे दिया कि हम इन मौखिक परम्पराओ को भी ध्वनि और लिपि मे आवद्ध कर ले। इन्हे लिपिवद्ध करने के साथ ही साथ इनकी विशिष्टताओ का अध्ययन होने लगा और धीरे धीरे लोक साहित्य की एक विशिष्ट मर्यादा बन गयी।

सक्षेप मे हम कहने को तो कह सकते है कि जैसी लोकतन्त्र की परिभापा इस रूप मे की जाती है कि ऐसा शासन-तन्त्र जो लोक के द्वारा लोक के लिये और लोक का होकर परिचालित हो उसे लोकतन्त्र कह सकते है, उसी प्रकार लोक साहित्य की परिभाषा यो की जा सकती है कि वह साहित्य जो लोक के द्वारा, लोक के लिये और लोक का अर्थात् लोक की भाषा का साहित्य हो उसे लोक-साहित्य कहा जा सकता है। इस परिभाषा मे लोक-साहित्य की तीन मर्यादाएँ स्वत स्थापित हो जाती हैं। पहले तो यह कि लोक-साहित्य की रचना लोक द्वारा होती है, इसका अर्थ यही है कि लोक-साहित्य का रचयिता कोई

व्यक्ति नही हुआ करता वह एक विशिष्ट समूह होता है जो सामूहिक आकाक्षा के घनीभूत होते ही गीतो, उक्तियो या कथाओ मे फूट पड़ता है। वैसे तो यह मान लेना चाहिए कि किसी भी गीत, कथा या उक्ति का प्रथम दर्शन किसी व्यक्ति को हुआ होगा, पर उस व्यक्ति ने अपने को अपने तक इस नये साक्षात्कार को सीमित न करके इसे अपने समूह की सम्पत्तिवना देने के लिये उतावला हो गया होगा। समूह ने मिलकर उस अनुभव को अपने और अनुभवो का रग देकर एक विल्कुल विलग अभिव्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत कर दिया होगा, उस अभिव्यक्ति के पीछे न केवल अनेक व्यक्तियो का अनुभव और कल्पना का परिष्कार है, वल्कि अनेक कण्ठो का स्वर-मेल भी है। एक उदाहरण से इसे हम स्पष्ट कर सकते हैं। एक तरगी व्यक्ति फाग का गीत लिखता है, पर फाग का गीत अकेले गुनगुनाने के लिये नही है वह मण्डली मे गाने के लिये है। जव वह मण्डली के साथ गीत गाने के लिये वैठता है तो उसके साथ दूसरे गाने वाले अनेक सशोधन-विशोधन करते है और अपनी-अपनी ताल-लय के साथ इस गीत के ताल-लय के मिलाने की कोशिश करते है। तव आवश्यक हो जाता है कि उस गीत के वोल कही कही वदले, लय कही कही वदले और भाव भी कही कही वदले। इन सव के सम्मिलित प्रयत्न से वह गीत नया रूप धारण कर लेता है और तव वह व्यक्ति का गीत न होकर लोक-गीत हो जाता है। कहा जा सकता है कि विद्यापति के नाम से, तुलसी के नाम से और भी अनेक रस-सिद्ध कवियो के नाम से वहुत से ऐसे मगल-गीत प्रचलित है, जिनकी तुलसीदास जी द्वारा रचना प्रमाणित नही है, इन गीतो को किस श्रेणी मे रखा जाय ? हमारी समझ मे ये गीत भी लोक-गीतो की श्रेणी मे आते है, क्योकि तुलसी, विद्यापति आदि नाम केवल तुलसी-विद्यापति के लोक-जीवन मे अधिव्याप्त महत्त्व को सिद्ध करते है न कि उनके इन गीतो के कर्त्तृत्व को। इसी प्रकार ईसुरी, रगपाल, छोटकुन जैसे लोककवियो की कुछ ऐसी रचनाएँ ज़रूर होगी जो इनका नाम वहन करते हुए भी परिवर्तनो और परिवर्धनो के कारण लोक की सम्पत्ति वन गयी होगी। यद्यपि इनकी अधिकाश रचनाएँ अव भी शुद्ध लोक साहित्य नही कही जा सकती, अधिक से अधिक इन्हे लोक-भापा

का साहित्य कह सकते हैं। जब तक व्यक्तित्व बिलकुल विगलित न हो जाये, तब तक लोक-साहित्य की रचना सम्भव नहीं होती और यह व्यक्तित्व सबसे अधिक छाया रहता है रचना के कर्त्तृत्व पर। अपनी रचना के कर्त्तृत्व के साथ व्यक्ति का बहुत विशिष्ट मोह होता है, इसे छोड़ सकना उसके लिये सम्भव नहीं होता। इसलिये जो व्यक्ति इस मोह को छोड़ कर लोक के लिये अपना कर्त्तृत्व अर्पित करता है, वह लोक से किसी भी माने में अभिन्न नहीं कहा जा सकता, उसकी कृति इसीलिये लोक-कृति बन जाती है।

लोक-साहित्य की दूसरी मर्यादा है कि वह लोक के लिये होती है। लोक-साहित्य का प्रयोजन लोक का ही मंगल, लोक का ही सुख-दुःख-निरूपण, लोक के ही उत्सव और लोक की ही आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। वेद के मन्त्रों की तरह प्रत्येक लोक-गीत की एक विशिष्ट विनियोग होता है और इसीलिये सर्वोत्कृष्ट लोक-साहित्य हमें संस्कार-गीतों में प्राप्त होता है। ये संस्कार-गीत हमारी प्रत्येक धार्मिक विधि के अनिवार्य अंग बन गये हैं। लोक-मानस का सबसे अधिक उदात्तीकरण इन गीतों में मिलता है। इसकी भाषा के ऊपर भी उपनिषदों के सहज चिन्तन और प्राचीन ऋषियों की आनन्दानुभूति की गहरी छाप है। जिस तरह उपनिषदों में एक वाक्य को समझाने के लिये बार-बार उसे दुहराया जायेगा और स्मृति पर चढाया जायेगा, उसी तरह संस्कार-गीतों में भी एक ही वाक्य के अर्थ की पुष्टि करने के लिये बार बार उसे दुहराया जायेगा। जिस तरह उपनिषदों में बिम्बानुबिम्ब-शैली से बात समझाने की कोशिश की जाती है, उसी तरह इन गीतों में भी मार्मिक प्रसंगों की अभिव्यक्ति प्राकृतिक जीवन से प्रतिबिम्ब लेकर की जाती है। इन संस्कार-गीतों में इसी कारण संस्कृति की पवित्रतम धरोहर सुरक्षित है। इसमें मनुष्य की दृष्टि इतनी विशद और व्यापक है कि राम-सीता, शिव-पार्वती, कृष्ण और राधा सभी का ऐश्वर्य पिघल कर मानवीय बन गया है। लोक-साहित्य में इसीलिये कला की विलक्षणता नहीं मिलती। सहज सौन्दर्य का बोध तो मिलता है, पर छेनी की तराश का आभास नहीं मिलता क्योंकि लोक-साहित्य के रचयिता अचेतन कलाकार हैं। ठीक-ठीक कहे तो वे कलाकार भी नहीं,

वल्कि वह शुकदेव की तरह विश्व-सत्ता के अगभूत, उपाधि से निरावृत मानव है। उन्हे दु ख का ज्ञान और अनुभव नही है और सुख की लालसा मे तृप्ति है। दु.ख उनकी स्मृति मे है, सुख उनकी मुट्ठी मे। इसी से गहन से गहन सघर्ष के बीच उनका विश्वास अडिग है, उनका मगल-कामना अप्रतिहत है, उनका आनन्द-बोध अमन्द है। बबूल के नीचे मण्डप छाने का उत्साह, अभाव के घर से दूध-दही के पनाले बहाने की कामना, धूल और गन्दगी के बीच चन्दन के छिडकाव की वासना, ननद और सास के दुर्व्यवहार का उत्तर पुत्रोत्सव के उल्लास मे अपनी उदारता से देने का सकल्प, अचेतन जगत् मे अपने चेतन जगत् की परछाईं पाकर उसके प्रति मानवीय करुणा का उमडाव, गहन से गहन पक मे भी अपने मन को कमल की तरह ऊँचा रखने का व्रत इस लोक-साहित्य ही ने पाला है। और उसे एक जीवित जातीय रागबोध के रूप मे आज गतिशील रखा है। उस उदात्त लोक-जीवन की परम्परा को ही इसका श्रेय है कि हमारी सस्कृति गगा की तरह प्रवहमान सत्य बनी हुई है, क्योकि हमारे ज्ञान के सूर्य अस्त होते-होते अपनी किरणो की जाली समेटकर लोक-साहित्य के चन्द्रमा को सौप गये। सस्कार-गीतो के अलावा लोक-साहित्य के दूसरे रूप भी है। ऋतु-गीत, क्रीडा-गीत, क्रिया-गीत, लोकोक्ति, लोक-कथा, आख्यान-गीत या लोक-गाथा इनमे भी लोक-साहित्य की मगल-प्रयोजकता स्पष्ट है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध विद्रोह, वैषम्य के प्रति गहरा व्यग और प्रेम, न्याय, त्याग की प्रतिष्ठा, यही इनका मुख्य रूप से प्रतिपाद्य है। जँतसार, सोहनी और रोपनी के गीतो मे प्रायः एक ऐसी कहानी मिलती है, जिसमे कोई कामी पुरुष किसी स्त्री को प्रलोभित करने का प्रयत्न करता है। वह स्त्री बडे कौशल से उसका प्रतिकार करती है और बडे मीठे शब्दो मे उसकी भर्त्सना करती है। सावन के गीतो मे और सुवटा या चकई-चकवा के गीतो मे भाई-बहन के पवित्र सम्बन्ध का दिग्दर्शन प्राय कराया गया है। हमारे समाज मे भाई-बहन का निश्छल और पवित्र प्रेम जो इन लोक-गीतो मे मिलता है वह हमारी संस्कृति की सबसे बडी और ऊँची विरासतो मे से है। इनमे बहन अपना दु ख केवल भाई से कहती है, अपनी साध केवल भाई से पुजाती है और अपना सर्वस्व भाई के मगल के लिये अर्पित

करती है। केवल दो तीन प्रकार के ऐसे गीत हैं जैसे कजली, होली और रसिया, जिनमे परकीया भाव के भी चित्र मिलते है और रूपाकर्षण के ग्राम्य सस्करण दृष्टिगोचर होते हैं। कही-कही तो खाली वर्णन होने के नाते इनमे उत्तान शृगार का भी रूप आ जाता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह तो शिव नही है, पर यह स्मरण रखने की बात है कि इन गीतों के अवसर उन्मुक्त उल्लास के अवसर होते हैं, उस समय लोग अपने को प्रकृति के साथ निर्बन्ध आनन्द की स्थिति मे पहुँचा देना चाहते है। सकोच, दुराव, सामाजिक भेद-उपभेद इन सब को भुलाकर यह उद्दाम आवेग या तो वर्षा मे आता है या वसन्त मे, वसन्त मे अधिक वर्षा मे, क्योंकि वर्षाऋतु सबसे अधिक प्राणवान् और मनोहर होती है। यह अस्वाभाविक नही है कि सहज और मुक्त आनन्द के अवसर का कलुषित भावना वाले व्यक्ति अनुचित लाभ उठा ले। इनकी मनस्तुष्टि के लिये उन्ही की तरह लोकशिवपराङ्मुख गायक उद्दाम उद्दीपक रचनाएँ भी प्रस्तुत कर दे, यह भी स्वाभाविक है, परन्तु उनकी रचनाओ से प्रवृत्तियो से लोक-मानस का परिमापन करना समीचीन न होगा।

लोक-साहित्य की तीसरी मर्यादा है लोक का साहित्य होना अर्थात् लोक की भाषा मे उसका रचा जाना। यह तो स्वत सिद्ध बात है कि लोक मानस से जो चीज़ निकलेगी, और सहज ढग मे निकलेगी, लोक की अभिव्यक्ति और लोक के अभ्युदय की आकाक्षा से निकलेगी, यह निश्चय रूप से लोक के माध्यम से निकलेगी और भाषा की कसौटी पर उसका खरा उतरना सबसे पहला लक्षण है और यही ठीक-ठीक पहचान हो जाती है कि यह लोक-साहित्य खरा है या खोटा, इसमे मिलावट है या शुद्ध है, पुराना है या गढा हुआ है। भाषा की लोच, मुहावरो की बन्दिश, प्रतीको की ताजगी, प्रतिबिम्बों की सादगी और लय की विविधता लोक-साहित्य की भाषा के प्रमुख गुण हैं। जो लोग मिलावट करने की कोशिश करते भी हैं, उनकी गल्ती बहुत जल्द पकडी जाती है, क्योकि उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रयत्न भी भाषा का सहज प्रवाह अवरुद्ध कर देता है। जिन लोगो ने अपने गीतो को लोक-साहित्य मी टहनी की टहनी तोड कर हरियाली देनी चाही, उनके गीत पनप नही सके। लोक-

साहित्य की भाषा शिष्ट साहित्य से भिन्न इस माने मे है कि वह केवल लोक-भाषा नही है। शिष्ट साहित्य को लोक-भाषा मे लिखा जा सकता है, पर उसकी लोक-भाषा भी लिखित भाषा की ही तरह प्रयत्न पूर्वक संवारी और मांजी हुई होती है, उसमे अनगढपन नही होता। यह कहना कि लिखे-पढे आदमी जब साहित्य रचेगे, तब वह कृत्रिम साहित्य रचेगे और जब अनपढ आदमी साहित्य रचेगें तो उसकी भाषा सहज होगी, केवल अश-सत्य है। व्यक्ति जब अपने अहम् मे रहकर साहित्य रचेगा तो चाहे जिस भाषा मे रचे चाहे, वह पढा लिखा हो या न हो, वह सुनी हुई या जानी हुई साहित्य-परम्परा के आधार पर ही प्रयत्नपूर्वक ही अपनी बात अधिक से अधिक अच्छे ढग से कहने की कोशिश करेगा। लोक-साहित्य की सहजता के कारण उसका अशिक्षित जनता मे प्रचार या अशिक्षित जनता द्वारा रच जाना नही बल्कि उसकी सहजता का मर्म है, उसकी लोक-कण्ठ द्वारा स्वीकृति, उसकी कसौटी है लोगो की लय मिला देना। उसे अलंकार की परवाह नही है, उसे चिन्ता है सम-तालता की ओर इसीलिए उसकी चिरनवीनता सुरक्षित है। वह पुनरुक्ति से नही डरती, बल्कि उल्टे पुनरुक्ति से और अधिक बल प्राप्त करती है। शब्द की तो बात ही क्या, पक्ति की पक्ति इसलिये दुहरायी जाती है कि दुहराये जाने के कारण वह और भी अर्थवती हो जाये। वही मूर्त्त प्रतीक ध्यान मे लाया जाता है, जो प्रत्येक घर मे सामने आता है। इन्हे बदलने की कोशिश नही की जाती, क्योंकि उससे लय नष्ट होती है। अपने आप लय-माधुरी से उसका सहज अल-करण उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार टहनी पर खिले हुए फूल को किसी टीके की जरूरत नही होती कि उसको चमकाये—या दीपक की लौ को किसी रेशमी परिधान कि जरूरत नही होती कि उसे और द्युतिमान् बनाये। लोक-साहित्य की भाषा प्रात काल के निराभरण गगन की जीती जागती भाषा है, उसमे प्रकाश है, प्रत्यग्रता है, अविमृष्ट सौरभ है और पक्षियो के कलालाप का माधुर्य। कहा जा सकता है कि भाषा तो समाज के सस्कार की देन है उसका प्राकृतिक रूप क्या होगा? इसका समाधान यही है कि जब विचार थोडी ऊँचाई पर पहुँच जाते है तो वे हलके हो जाते है, जब अनुभूति गहराई पर पहुँच जाती

है तो वह शून्य हो जाती है अर्थात् वह आडम्बरविहीन हो जाती है और एक व्यक्ति की नही समग्र जाति की, एक क्षण की नही बल्कि युगो युगो की अनुभूति जिसमे उतरे, वह भाषा सीधी सादी और अर्थवान् क्यो न हो, क्यो न उसमे जीवन की उच्चतम ज्ञान और गहनतम अनुभव एक साथ प्रतिध्वनित हो। यह समझना कि लोक-साहित्य की रचना असस्कृत जीवन की रचना है, सबसे बडा प्रमाद होगा, क्योकि सस्कृति का जो शाश्वततम राग हो सकता है, वही लोक-जीवन की श्वास बनकर मुखरित होता है। सस्कृति का क्षणभगुर उपकरण लोक-जीवन तक नही पहुँच पाता और इसीलिये लोक-जीवन की श्वास-प्रश्वास से मुखरित होने वाला स्वर जिस राग को गुजरित करता है, वह सस्कृति का सबसे मर्मभूत, सबसे अनश्वर और सबसे शिवप्रद राग होता है। हमारा लोक-साहित्य हमारी उस उदात्त और महान् सस्कृति के वे अकुर सीचती रही है, जिन्हे आँधी पानी से लोक-जीवन मे ओट मिल सकी।

———

# लोक साहित्य में शिल्प-विधान

इधर लोक साहित्य के सम्बन्ध मे फैशन और अध्ययन दोनो प्रकार के दृष्टि रखने वाले लोगो ने गहरी रुचि दिखलायी है। एक ओर तो लघु कथा और कविता मे लिखे लोक-गीतो के बिम्ब और शब्द-विन्यास तथा सम्वाद-शैली अपना कर ताज़गी का आभास देने की कोशिश की गयी है, दूसरी ओर अतिशय प्रशंसा से प्रेरित होकर लोक साहित्य की खूबियो का विशद बखान किया गया है। कुछ इने-गिने ऐसे भी रूढ़िवादी है, जो लोक साहित्य को असस्कृत और अत्यत हेय समझते हैं और लोक साहित्य के आन्दोलन को ही गलत बतलाते है। इन तीनो से अलग सरकार का दृष्टिकोण है जो लोक साहित्य की ताज़गी, जिन्दा-दिली और लयदारी का भरपूर उपयोग अपनी योजनाओ के लिये उत्साह जगाने मे करना चाहती है। इस प्रकार बावजूद इसके कि लोक साहित्य की चर्चाओ की बडी धूम है, लोक साहित्य के बारे मे निर्भ्रान्त और तटस्थ विवेचन की ओर बहुत कम लोगो का ध्यान है। लोक साहित्य की असलियत की पहिचान क्यो जरूरी है, यह उन लोगो को मालूम है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से लोक साहित्य का अध्ययन करना चाहते है, या जो शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इसका पर्यालोचन करना चाहते हैं या जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका अध्ययन करना चाहते है। उन सब को एक बात का अवश्य ध्यान रखना होता है कि हमारे सामने परीक्षण के लिये जो सामग्री उपस्थित है, वह प्रामाणिक रूप मे असली है, नही तो हमारा निष्कर्ष गलत हो सकता है, तो सवाल यह उठता है कि असलियत कैसे पहचानी जाय, विषय-वस्तु से, भाषा से या शिल्प विधान से ? यह स्पष्ट है कि विषय-वस्तु निर्णायक नही हो सकती, क्योकि ग्राम्य जीवन के

सुख-दु ख लोक साहित्य की इजारेदारी मे नही आते। अन्य प्रकार के साहित्य मे भी उनका वर्णन हो सकता है और होता है। इसी प्रकार भापा भी निर्णायक नही हो सकती, क्योकि मात्र लोक-शब्दावली मे लिखने से कोई चीज़ यदि लोक-साहित्य वन जाय तो रामचरितमानस और विद्यापति के पद लोक-साहित्य के ही अंग माने जायेगे। तो पारिशेष्य से वच जाता है शिल्प-विधान। इस निवन्ध मे हम उसी का सक्षिप्त विवेचन करेगे, क्योकि यही निर्णायकतत्त्व है।

हम इतना मानकर तो चले ही कि लोक साहित्य की भाषा शिष्ट और साहित्यिक भापा न होकर साधारण जन की भाषा है और उसकी वर्ण्य वस्तु लोक जीवन मे गृहीत चरित्रो, भावो और प्रभावो तक सीमित है। यह तो लोक साहित्य की पहली मर्यादा हुई। इसकी दूसरी मर्यादा है, उसकी रचना में व्यक्ति का नही वल्कि समूचे समाज का समवेत योगदान। यही कारण है कि लोक साहित्य के ऊपर व्यक्ति की छाप न हो करके समग्र व्यक्ति-लोक की छाप होती है। शिल्प-विधान की वात करते समय हम जव इन दो मुख्य मर्यादाओ को सामने रखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे शिल्प-विधान के लिये कोई अभ्यास या कौशल परिलक्षित नही हो सकता, क्योकि शिल्प का विधान हमे यदि दिखता है तो वह मामाजिक समरसता की विवशता के कारण अपने आप उद्भूत रूप मे ही। वैसे प्रचलित अर्थ मे शिल्प-विधान की बात यहाँ नही उठायी जा सकती। लोग समझते यही हैं कि शिल्प के पीछे एक पूर्वचिन्तित व्यापार अवश्य सन्निहित होता है और चूंकि लोक साहित्य मे ऐसा कोई व्यापार होने की सम्भावना नही है, इसलिये उसके शिल्प-विधान की वात नही उठती। पर तात्त्विक दृष्टि से देखने पर शिल्प-विधान का अर्थ है अभिव्यक्ति को अभिव्यज्य से जोडना। जो वात कही जा रही है, वह वात किस रूप मे कही जाय कि अभिप्रेत अर्थ ही द्योतित हो और न केवल द्योतित हो बल्कि प्रभावकारी रूप मे द्योतित हो, यह उस वात से कम महत्त्व नही रखती और एक तरह से कहा जाय तो उस वात का अपरिहार्य अग है। यह अग ही शिल्प-विधान है। सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे जिसे रीति कहा गया है, वह शिल्प-विधान का एक अग मात्र है। रीति की सैद्धान्तिक धारणा जो भी हो, उसका

प्रायोगिक रूप मात्र वर्ण-सघटना ही है। शिल्प-विधान वर्ण-सघटना के अलावा बिम्ब-विधान, लय और ताल का मेल, कथोपकथन शैली और प्रारम्भ और उपसंहार का विन्यास भी है। अंग्रेजी मे भी जिसे टेकनीक कहा जाता है, और आलोचना में जिसकी विधा सज्ञा दी जाती है, उससे भी इस माने में शिल्प-विधान आगे है कि टेकनीक या विधा अभिव्यक्ति की सतह पर ही रहते हैं, अभिव्यज्य की गहराई तक नही जाते। प्राचीन कला-शास्त्र मे इसके लिये वर्तनी शब्द आया है, उसका भी व्युत्पत्तिजन्य अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्ति का मोड कैसा होना चाहिए, यही वर्तनी है। शिल्प-विधान मात्र मोड़ नही है। यह अभिव्यक्ति का मर्म है। कला की भाषा में कहें तो यह रेखा है। इसलिये यह अभिव्यक्ति और अभिव्यज्य की सन्धि है। जैसे जोड का न दिखलायी पडना ही उसकी सुन्दरता है वैसे ही इसका भी लक्षित न होना ही इसका चरम उत्कर्ष है। कला शब्द का अर्थ भी जोडना ही है और जो कला जितनी ही अलक्षित रहती है, उतनी ही प्रभावकारी हो पाती है। इस दृष्टि से देखने से लोक साहित्य मे शिल्प-विधान अपने उत्कर्ष पर है, क्योकि वह सबसे अधिक यही पर निरभिमान निर्व्याज और निसर्गोद्भूत है। कालिदास ने जिस 'भ्रू विलासानभिज्ञ प्रीतिस्निग्ध जनपद-वधू-लोचन' की छवि के द्वारा नीरद-राशि का पान कराया है, वह छवि ही इस शिल्प-विधान की जान है। बाँकपन से इसका परिचय नही, विदग्धता का इसमे धैर्य नही और सँवार का इसे ध्यान नही। जो सौष्ठव है, वह ऐसा है कि भीतर की प्रीति से अपने आप रच गया है और जो पानी है, वह ऐसा है, जो बिना पत्थर पर सान चढाये अपने आप भीतर के तेज से निखर गया है। कहा जा सकता है कि यह तो विषय-वस्तु की बात हुई, इसे शिल्प-विधान के अन्तर्गत क्यो लाया जा रहा है, तो उत्तर यह है कि शिल्प-विधान का अर्थ ही यह है कि वह विषय-वस्तु के साथ ऐसा मेल खाय कि विषय-वस्तु उसी के भीतर आकर रहे, उसके बाहर न जाय। अनुहार के लिये आभ्यन्तर प्रयत्न ही शिल्प-विधान है। यह आभ्यन्तर प्रयत्न कितने प्रकार का लोक साहित्य मे हो सकता है, इसकी हम आगे मीमासा करेगे। लोक-साहित्य के मुख्यत चार भेद कहे जाते है, लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा

और लोक-नाट्य। लोक-गाथा और लोक-कथा मे भेद इतना ही है कि लोक-गाथा एक लम्बे आख्यान-गीत के रूप मे चलती है और इसमे प्रवन्ध-योजना गाथा-प्रधान न होकर रस-प्रधान होती है, जवकि लोक-कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा-प्रधान या दूसरे शब्दो मे घटना-प्रधान हुआ करती है। लोक-नाट्य जनसुलभ रगमच को दृष्टि मे रखकर आगिक और वाचिक अभिनय पर आवृत स्वाग या लीला तक ही सीमित रहता है। इसमे सामयिकता का विशेष ध्यान रहने के कारण स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता नही होती। लोक-कथाओ और लोक-गाथाओ मे कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है, केवल लोक-गान ही ऐसा प्रकार है, जिसमे अपने समग्र रूप मे शिल्प-विधान विकसित हो सकता है, इन चारो प्रकार के रूपो मे शिल्प-विधान के ये अग समान रूप से अपेक्षित है।

पहला है शब्द या शब्द-समूहो की पुनरावृत्ति। ये शब्द या तो लोक-परम्परा मे गृहीत मागलिक विशेषणवाची होते है या केन्द्रभूत अर्थ के व्यंजक होते हैं। जव कोई पात्र किसी प्रश्न का उत्तर देता है तो उस प्रश्न के प्रयुक्त शब्दो को और उसके विशेषणो का ज्यो का त्यो उत्तर मे अनुवाद करते हैं जैसे प्रसग है कि

को मोरे आगे पीछे बैठइ को लट छोरै।
को मोरी जागइ रयनिया त नरवा छिनावइ॥
वन से निकरी वन तपसिन सितै समझावै।
सीता हम तोरे आगे पीछे बैठव हम लट छोरव।
हम तोरी जगवै रयनिया त नरवा छिनउवै॥

यह इसलिए किया जाता है कि अर्थ की प्रतीति मे कोई व्यवधान न हो। इसी तरह थाली अगर हो तो सोने की ही हो, चौकी अगर हो तो चन्दन की ही हो, अटारी यदि हो तो ऊँची ही हो, बैठने की बात यदि आये तो मचिया जरूर आये, घोडा अगर हो तो नीला ही हो, डोरी अगर हो तो रेशम की ही हो, सेज हो तो वेले की कलियाँ भी वहाँ बिछी हो। ऐसा साहचर्य जो लोक-परम्परा मे गृहीत है, लोक-साहित्य मे कवि-समय की तरह ही अभिप्राय समझा जाता

है, ऐसे जोडो की पुनरावृत्ति अर्थ की स्पष्टता और लोक-साहित्य की परम्परा की स्मृति के लिये की जाती है। तीसरी प्रकार की पुनरावृत्ति सामाजिक और आध्यात्मिक कारणो से होती है। उदाहरण के लिये सात भाई के बीच मे एक बहन का होना, प्रियतम के विदेश जाने पर बारह वर्ष तक एकतान प्रतीक्षा करना, ननद भौजाई और सास-बहू के बीच विरसता की कल्पना, भाई-बहन के निश्छल स्नेह की रचना, पुत्र का पुत्री से अधिक महत्त्व होना और खरी बात कहने वाले को पहले दु:ख भोगाकर समाज मे विजयी बनाना, ये भारतीय लोक-साहित्य के ऐसे अभिमत तथ्य है कि जिन्हे सामाजिक अवस्था की परिणति ही कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तीन की सख्या का महत्त्व, अधर्म के ऊपर धर्म की विजय, अपनी खुशी मे जड-चेतन सबको साझीदार बनाने का उत्साह और अपने दु ख मे प्रकृति को सहानुभूतिमय देखने की शक्ति, ये अभिप्राय भी ऐसे मर्मभूत सत्य के रूप मे लोक साहित्य मे गृहीत हुए है कि इनमे एक-न-एक पर बात छिड़े बिना नही रहती। लोक-कथानको मे इन आध्यात्मिक अभिप्रायो की पुनरावृत्ति सबसे अधिक मिलती है। इस पुनरावृत्ति की परम्परा का स्रोत आरण्यको और उपनिषदो में ढूँढ़ा जा सकता है। सत्य जिस रूप मे समाज से परिचित होता है, उसी रूप मे वह सत्य असदिग्ध रूप मे समझा जा सकता है। दूसरे रूप मे उसकी अन्यथा प्रतीति की आशका रहती है। इसीलिये सत्य की अनुसंधित्सा जहाँ मुख्य प्रतीति हो, वहाँ सत्य को दस रगो मे रँगने की कोशिश करना उद्देश्य मे बाधक हो सकता है। बात कुछ अटपटी लगेगी पर उपनिषद् और लोक साहित्य का मूल स्वर इस माने मे एक है कि सहज सत्य की उपलब्धि के लिये दोनो मे समान रूप से बेचैनी है। उपनिषद् भी एक व्यक्ति की रचना नही, वरन् नाना प्रकार के विचारको के चिन्तन और मनन मे सहभागी, सहज जीवन बिताने वाले समाज द्वारा सत्य का साक्षात्कार है और लोक-साहित्य भी मगल के लिये निरन्तर कर्मशील लोक जीवन की चरम और सामूहिक उपलब्धि है।

दूसरा वैशिष्ट्य है अनपेक्षित कथांश का परिहार और केवल मर्मभूत कथाश का मर्म-विन्यास। लोक-मानस का कुतूहल किस अश तक सीमित है, इसकी

ठीक-ठीक परख रखते हुए लोक साहित्य बराबर उन अंगों को जोड़ते हुए चलता है, जो अंग अपने-आप गम्य हो सकते हैं और जिनके बीच मे जोड़ देने से कथा के रस मे व्याघात उपस्थित हो सकता है। उदाहरण के लिये हरिणी वाला प्रसिद्ध सोहर ही ले लीजिए—

छापक पेड छिउँलिया तौ पतवन गहवर।
अरे रामा तिहितर ठाढी हरिनिया त मन अति अनमनि हो ॥
चरतइ चरत हरिनवाँ तौ हरिनी से पूँछइ हो।
हरिनी की तोर चरहा झुरान कि पानी बिन मुरझिउ हो ॥
नाही मोर चरहा झुरान न पानी बिन मुरझिउँ हो।
हरिना आज राजाजी के छट्ठी तुम्हे मारि डरिहइँ हो ॥
मचियै बैठी कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ हो।
रानी मसवा तौ सिझही रसोइयाँ खलरिया हमैं देतिउ ॥
पेडवा से टँगबइ खलरिया त मन समुझाउब हो।
रानी हेरि फेरि देखबइ खलरिया जनुक हरिना जिअतइ हो ॥
जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाही देवइ हो।
हरिनी ! खलरी क खँजड़ी मिढउबइ त राम मोर खेलिहइँ हो ॥
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ हो।
हरिनी ठाढि ढेकुलिया के नीचे हरिन के बिसूरइ हो ॥

वातावरण का चित्र है। हरिणी से हरिण एक प्रश्न पूछता है, बस इतना काफी है, फिर यह कहने की जरूरत नही कि हरिण उत्तर दे रहा है और उत्तर से ही यह बात गम्य हो गयी कि हरिण छट्ठी के लिये मार डाला गया और इस कथाक्रम मे हरिण का मारना नही कहा गया है। फिर हरिणी और कौशल्या का सम्वाद है और कौशल्या के उत्तर से ही यह बात गम्य हो जाती है कि हरिणी को निराश होकर लौटना पडा, इसके कहने की जरूरत नही है। हाँ, इस चित्र का सबसे मर्मस्पर्शी रूप सामने रखना अधिक आवश्यक है और वह रखा गया है। लोक-कथाओं मे यह वैशिष्ट्य और अधिक महत्त्व रखता है। जहाँ एक ओर एक साभिप्राय बात बराबर दुहरायी जायेगी, वहाँ अभिप्राय से बहिर्भूत

वात एकदम छोड़कर कथानक आगे चल देंगे। लोक साहित्य ऐसे परिहार्य अंशो के वर्णन के लोभ मे नही फँसता, उसके लिये वातावरण का चित्र केवल प्रतीक है। उपन्यासो में जैसे लम्वे वर्णन हमे मिलते है और यह कहा जाता है कि यह वर्णन चरित्र-चित्रण और कथा-निर्वाह के लिये अत्यन्त आवश्यक है, वैसी वात यहाँ नही है। उपन्यास मे क्रम उलट-पलट दिया जाता है या कथा मे अधिक रस-प्रकर्ष आने पर ध्यान अन्यत्र आकृष्ट करके थोडा सा मन को हलकेपन का वोध दिया जाता है; पर लोक-कथा मे या लोक-गाथा मे कथा को उत्कर्ष पर पहुँचा कर छोड दिया जाता है और अंत मे केवल एक भरत-वाक्य जैसी चीज़ जरूर जोड दी जाती है। जैसे उनके दिन वहुरे, वैसे सवके दिन वहुरे, या नेकी नेक राह, वदी वद राह, या अन्याय परिशोधित हुए विना नही रहेगा या ये सारे दु:ख भूल गये, वधाई वजने लगी। गीतो मे मगल की कामना अत्यन्त सूक्ष्मता से व्यक्त होती है। कभी-कभी मगल की वात लय की लहक मे ही आकर रह जाती है। अधिकाश सोहरो की अन्तिम पक्ति के आते आते दु:ख लगता है, उमड-घुमड कर छा गया है और इतने ही मे लय ऐसे मोड़ खाती है कि सारी उमडन-घुमड़न तितर-वितर हो जाती है।

इस विगत दशक के भीतर हिन्दी कथा-साहित्य मे लोक-कथा से प्रेरणा लेकर अनेक सफल प्रयत्न हुए है। यहाँ उनके नामोल्लेख का प्रसंग नही है, इसलिये इनका नामोल्लेख न करके केवल इतना वतलाना आवश्यक है कि लोक-कथा की उच्छृङ्खलता तो इनमे जरूर आयी है, पर सादगी नही आ पायी है। इसका कारण यह है कि जिस वात मे कथा सुनने वाले का कोई रस नही है, उसको भी मात्र अपने व्यक्तिगत रस के कारण विशद रूप देने का लोभ आधुनिक कथाकार सवरण नही कर पाते। मैला आँचल, परती परिकथा, आरण्यक, वूँद और समुद्र, मृगनैनी जैसे सरस उपन्यासो मे यह दोष स्पष्ट रूप मे सलक्षित है। इन उपन्यासो का सौन्दर्य सवसे अधिक इसी दोष से अपकृष्ट हुआ है। लोक साहित्य मे जो यह वैशिष्ट्य अपने निखरे हुए रूप मे मिलता है, उसका कारण भी यही है कि लोक साहित्य की रचना व्यक्ति के पूर्वराग या पूर्वद्वेष द्वारा नही होती। इसीलिये समस्त लोक की प्रत्याशाओ का ठीक-ठीक आकलन

करने मे वह समर्थ होता है।

इस शिल्प-विधान का तीसरा वैशिष्ट्य है ऐसा बिम्ब-विधान जो लोक-कल्पना की परिधि मे आता हो अर्थात् जो लोकोत्तर न हो। यह वैशिष्ट्य अकेला ही ऐसा है, जो लोक-साहित्य को व्यक्ति-साहित्य से पृथक् कर देता है। व्यक्ति-साहित्य के बिम्ब शुद्ध रूप मे लौकिक नही हो पाते, उनमे व्यक्ति वैलक्षण्य आ ही जाता है और इसीलिये उनके बिम्ब को समझने के लिये उनके अनुभव के उस क्षण को भी समझना आवश्यक हो जाता है, जिसमे वह बिम्ब गृहीत हुआ था। शेली की कविता की व्याख्या करते समय अच्छे व्याख्याकार उस कविता के बिम्ब का स्रोत जरूर बतलाते है। लोक-साहित्य मे जो बिम्ब गृहीत हुए हैं, वे जातीय जीवन के साथ इतने घनिष्ठ रूप से परिचित हैं कि अनुभूति के एक क्षण का महत्त्व नही रहता। उदाहरण के लिये चन्दन की किवाडी, सोने की थाली या सोने के गेडुवे मे गगाजल पानी ऐसे बिम्ब हैं जो एक विशिष्ट जाति की कल्पना मे मगल का पूर्णबोध करा देने में समर्थ है या जैसे यह बिम्ब लीजिए —

कवनि उमरिया सासु निबिया लगायेन,
कवनि उमरिया गये बिदेसवा हो राम ॥
खेलत कूदत बहुवरि निबिया लगाये
रेखिया भिनत गै बिदेसवा हो राम ॥
फरिगै निबिया लहसि गै डरिया,
तवहू न आये तोर बिदेसिया हो राम ॥

इसमे नीम का पेड प्रियतम ने किशोरावस्था मे लगाया था और रेख भीगते ही परदेश चले गये। नीम फलने लगी और उसकी डाली फलो से झुकने लगी, पर प्रिय नही आये। इस चित्र के द्वारा समय का बोध कराना मात्र अभीष्ट नही है, बल्कि प्रकृति के क्षेत्र मे जो कार्य हुआ और मानवीय प्रेम व्यापार मे जो प्रेम का बिरवा लगाकर भी उसकी सफलता मे विलम्ब बना रहा, इन दोनो क्षेत्रो मे यह वैषम्य ही अधिक सार्थक रूप मे व्यग्य है। यह बिम्ब भी जीवन का सामान्य सा चित्र है और एक इस चित्र के दर्शन का अभिमान किसी एक

सुकृती के मन में नही उठ सकता, वल्कि समूची जाति इस विम्ब से एक ही प्रकार का अर्थ निकाल लेती है। कुछ ऐसे भी विम्ब मिलेगे, जो कि देखने में लोकोत्तर लगेगे, जैसे पान की तरह पतली और सुपारी की तरह ढुरहुरी वहू का सौन्दर्य। शिष्ट साहित्य की मर्यादा के अनुसार इन्हे अलोकसामान्य ही कहा जायेगा, पर अगर हम ध्यान से देखे तो लगेगा कि पान और सुपारी के साथ मांगलिकता का जो साहचर्य लोक-जीवन मे है, उसी को लेकर यह विम्व-विधान प्रस्तुत किया गया है। विम्व-विधान का अपना अलग वैशिष्ट्य लोक-साहित्य मे इस माने मे नही है कि वह अर्थ की अभिव्यक्ति में शिष्ट साहित्य के विम्वो के वीच कम या अधिक समर्थ है, वल्कि इस माने मे है कि वह अधिक लौकिक, निसर्गोद्भूत और सक्षिप्त है। लोक साहित्य मे इसीलिये मालोपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षावली, अपह्नुति जैसे अलकार नही मिलते। उपमा मिलेगी तो वहुत सीधी-सादी पूरी अभिव्यक्ति के अवयव का द्योतन करने के वहाने वह समूची उक्ति को चमका देती है। जैसे इस पूरे गीत मे केवल एक उपमा है, 'जैसे कुम्हार का आँवाँ भीतर ही भीतर रह रहकर भभक उठता है, उसी तरह माँ का हृदय अपने लडके के लिये रह रह कर विकल हो उठता है।

कमर मे सोहै करधनियाँ पाँव पैजनियाँ।
ललन दूरी खेलन जनि जाओ ढुंढन हम न अउवै ॥ १ ॥
सात विरन की वहिनिया वाप धिया एकै।
हरिजी की परम पियारि ढुँढ़न कैसे अउवै ॥ २ ॥
भोर भये भिनसरवा कलेवना की जुनिया।
होइ गै कलेवना की वेर ललनु नहिं आये ॥ ३ ॥
अँगिया तो फाटै वँदै वँद अँचरा करै कर।
छतिया उठी हहराय ढुँढन हम आइनि ॥ ४ ॥
सात विरन की वहिनियाँ वाप धिया एकै।
भैया वावू के परम पियारि ढुँढन कैसे आइउ ॥ ५ ॥
छाडेउँ मैं सातो विरनवा वाप कै नैहर।
छोडि दीन्हो हरि की सेजरिया ढूँढन हम आइन ॥ ६ ॥

जैसे कुम्हार क आँवाँ त भभकि भभकि रहै ।
बेटा वैसइ माई क करेजवा त धधकि धधकि रहै ॥ ७ ॥

पर इस एक उपमा ने भीतर की ज्वाला को ऐसा साकार रूप दिया है कि पूरा रूपक अगर बाँधा जाता तो इतना स्पष्ट और मार्मिक अर्थ नही दे सकता था। या जैसे

एकहि बँसवा के दुइ रे करैली
एक बँसुरी दुइ बाँस रे ।
एकहि मइया के दुइ रे लरिकवा
एक पुता दुइ धीय रे ॥

यह भी एक लम्बे गीत की पहली कडी है और इसमे केवल यही एक सादृश्य-बिम्ब है कि जैसे एक बाँस के दो करैले फूटते हैं, एक करैले से बाँसुरी बनती है और दूसरे से लाठी, वैसे ही एक माँ से दो सन्तान होती है, एक लडकी बनकर के दूसरे के घर की शुभी बनकर चली जाती है, दूसरा लड़का बनकर अपने घर का रक्षक बनकर रह जाता है। बाँसुरी और लाठी से लड़की और लड़के का जो सादृश्य है, वह साहित्यिक कवि-समय के परे है, क्योकि यह बाह्य सौन्दर्य में सादृश्य नहीं है, यह भीतरी विशेषता को लोक-कल्पना-गृहीत आकार देने का प्रयत्न है। कभी-कभी ऐसे बिम्ब आते हैं, जो ऊपर से बड़े अटपटे लगते हैं, पर उन्हे हम यदि उनके परिसर के आलोक मे देखे तो उनकी सरसता समझ सकते हैं। उदाहरण के लिये विवाह का एक गीत है, इस गीत मे कन्या, आम, पुत्र और हंस ये चार पदार्थ लिये गये हैं और इन चारो के साथ घर का आँगन, बाग़, द्वार और सर का तथा धर्म, सेवा, तप और दान का सम्बन्ध जोडा गया है। क्यों जोडा गया है, इसको समझने के लिये हमे हंस का वास्तविक अर्थ न लेकर उसका प्रतीकात्मक अर्थ कन्या का वर लेना होगा तब हम भारतीय परिवार का वह मांगलिक चित्र मन में ग्रहण कर सकेंगे, जिसे उतारने की कोशिश इस गीत में की गयी है।

काहे बिनु सून अँगनवाँ ये बाबा काहे बिनु सून लखराँउ ।
काहे बिनु सून दुअरवा ये बाबा काहें बिनु पोखरा तोहार ॥

धिया विनु सून अँगनवाँ ये वेटी कोइलरि विनु लखरॉउ ।
पूत विनु सून दुअरवा ये वेटी हस विनु पोखरा हमार ॥
कैसे के सोहे अँगनवाँ ये वावा कैसे सोहै लखरॉउ ।
कैसे के सोहे दुअरवा ये वावा कैसे सोहै पोखरा तोहार ॥
धरम से ये वेटी उपजिहैं ये वेटी सेवा से आम तैयार रे ।
तप देइ वोवव्यो वेटी ये वावा का देइ अमवा के गाछ ॥
का देइ पुनवा समोधव्या ये वावा का देइ हसा मँझधार ।
वन देइ विटिया समोधवै ये वेटी जल देइ समोधौ लखराउँ रे ॥
भुइँ देइ पुतवा समोधवै ये वेटी अन देइ हसा मँझधार ।
का देखि मोहै जनवसवा ये वावा का देखि रसना तोहार ॥
का देखि हियरा जुडैहे ये वावा का देखि नैना जुडाय ।
धिया देखि मोहै जनवसवा ये वेटी अमवा से रसना हमार ।
पुतवः से हियरा जुडैहै ये वेटी हसा देखि नैना जुडाय ॥

कही कही यह विम्वविधान सक्षिप्त होने के कारण वहुत सूक्ष्म है । जैसे

गहरी नदिया ये हरि जी
अगम वहे राम पनियाँ
पियवा जे चलले मोरग देसवा
विहरेला करेजवा ।

इसमे अथाह पानी और हृदय के अगम्य दु ख दोनो एकाकार कर दिये गये हैं, पर लगता है जैसे सादृश्य की ओर गीत का कोई सकेत ही नही था । जैसे

राम कै भीजै मुकुटवा
लखन सिर पटुका हो राम,
मोरी सीता कै भीजै सेनुरवा
लवटि घर आवइँ हो राम ।

इसमे मुकुट के द्वारा राज्य, दुपट्टे के द्वारा वाहुवल और सिन्दूर के द्वारा सौभाग्य वल का द्योतन वहुत सूक्ष्मता के साथ कराया गया है । एक तरह से यह कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य मे विम्व-विधान के वैशिष्ट्य मे ही उसकी

प्राणवत्ता है और यह बिम्ब ही लोक-जीवन की उदात्ततम आकांक्षाओ से इन तरह एकाकार है कि इनके विना कोई अनुभूति आकार ही नही ग्रहण कर पाती।

यह तो हुई उन सामान्य विशेषताओ की वात जो लोक-साहित्य के चारो प्रकारो मे पायी जा सकती हैं और इनमे से चाहे केवल एक ही मिले या ये तीनो मिले, पर सारवान् लोक-साहित्य मे इनका रहना व्यस्त या समस्त रूप मे जरूरी है। अव हम उन चारो प्रकार की अपनी अलग-अलग विशेपताओ के वारे मे सक्षेप मे प्रकाश डालना चाहेगे। जैसा कि ऊपर वतलाया जा चुका है कि लोक-गीत इन चारो प्रकार के साहित्य का सवसे अधिक उत्कृष्ट रूप है। लोक-गीत मे इन तीन विशेषताओ के आलावा शिल्प-विधान की दृष्टि मे दो और मुख्य विशेपताएँ पायी जाती है। एक तो यह कि अवसर या प्रकृति परिसर के साथ लय और ताल का मेल, दूसरा, वहुत सामान्य परिस्थिति से प्रारम्भ करके भाव की तीव्रता से समाप्ति। जहाँ तक कि लय और ताल के मेल की विशेपता की वात है वहाँ हिन्दीभाषी प्रदेश के जनपदो के लोक-गीतो को सुनने के अनुभव के वलपर हमे यह कहने मे तनिक भी सकोच नही है कि लय और ताल की परख जितनी इन गीतो मे है, उतनी हमे सस्कृत साहित्य के विरले छन्दो मे ही मिल सकी है। वैसे यह सगीत-शास्त्र की दृष्टि से भी गहन अन्वेपरण का विषय है और इस पर विशद प्रकाश यहाँ डाला भी नही जा सकता, पर मात्र निदर्शन के रूप मे कुछ चीजो की ओर इशारा किया जा सकता है। सोहर की लय वहुत परिचित लय है। इस लय की विशेपता यह है कि यह मानो प्रसव-वेदना की गहनता लिये चलती है और अन्त मे एकदम उत्कर्प मे चढकर उल्लास की अभिव्यक्ति करती है। कजली जैसे झूले की गीत मे लय पेग के साथ चढ़ती उतरती रहती है। जाँते के गीत मे जाँते के चक्कर पूरे होने के साथ-साथ 'हे राम' के गीत की कडी आकर एक झटके से मोड लेती है। विवाह के गीत मे शुरू से ही लय उल्लसित रहती है। निराई या रोपनी के गीतो मे एक पहँटा (पक्ति) कार्य समाप्त होते ही गीत की कडी वदल जाती है और गीत मे लय का विस्तार अपरिमित सा लक्षित होता है। ताल भी वही द्रुत होती है, जहाँ उमंग की मात्रा अधिक

होती है और इसीलिये होली के गीतो में द्रुत कई गुना हो जाता है। वस्तुतः लोक-गीतो ही के शिल्प-विधान के लय और ताल का महत्त्व सबसे अधिक है। और इस क्षेत्र मे कार्य यदि शीघ्र नही किया गया तो सिनेमा और रेडियो की कृपा से मिले लय और ताल के कारण विलुप्त हो जाने की आशका उपस्थित है। कारण असली ताल-लय के लोक-गीत की दूसरी अपनी अलग विशेषता जो ऊपर बतलायी गयी है, वह बहुत व्यापक न होते हुए भी उत्कृष्ट और लम्बे लोक-गीतो पर जरूर लागू है। चित्र ऐसे शुरू होगा कि लगेगा कि इससे तो प्रस्तुत विषय का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, पर चित्र के अन्त होते होते वह विषय ऐसी सघनता और तीव्रता के साथ उपस्थित हो जायेगा कि बस कुछ आगे कहने की आवश्यकता नही रह जायेगी।

लोक-गाथा और लोक-कथा मे अन्तर ऊपर बतलाया जा चुका है, पर इन दोनो मे अपनी अलग विशिष्टता के रूप मे शिल्प-विधान की दृष्टि से अपनी अलग-अलग विशेषता यह है कि लोक-कथा मे विमर्श की स्थिति के बाद पुण्य की विजय और पाप की पराजय जरूर दिखलायी जायेगी और अन्त मे सबका मगल भी चाहा जायेगा, पर लोक-गाथा मे प्रायः एक व्यक्ति या एक प्रसिद्ध मार्मिक घटना के चित्र-नायक की स्मृति दुहरायी जायेगी और चाहे नायक का जीवन जितना भी करुणान्त क्यो न हुआ हो पर उसके जीवन से मगल की प्रेरणा ही ली जायेगी। एक तरह से उसे जातीय उद्गार का प्रतीक मानकर पूजा जायेगा, जैसे बुन्देलखड मे हरदौल की कहानी, भोजपुरी क्षेत्र मे गोपीचन्द की कहानी। लोक-गाथा मे इसीलिये चित्त के परिशोधन के रूप मे करुणरस का उपयोग हुआ है, जबकि लोक-कथाओ को कही भी दुःखान्त बनाने की कोशिश नही की गयी है। लोक-गाथा मे प्राय जो छन्द व्यवहृत हुए है, वे हिन्दी के वीर छन्द की ही लय के समीप हैं और उनमे बीच-बीच मे आवेश के क्षण आते ही ढोलक की थाप के साथ लय तीव्र हो जाती है और जहाँ कथा का प्रभाव मन्द है, वहाँ लय मे खीच लम्बी रहती है। कथा-प्रवाह मे गति आते ही लय फिर से तेज हो उठती है। इस तरह से लोक-गाथा और लोक-गीत मे लय पर मेल एक सामान्य विशिष्टता है, पर लोक-गीत मे, जहाँ कथा या कोई पात्र प्रधान नही रहता, वहाँ लोक-गाथा मे कथा और एक विशिष्ट पात्र बना

रहता है। कुछ अर्थ तक जो भेद मुक्तक और प्रवन्ध मे है, वह भेद लोक-गीत और लोक-गाथा मे है, पर लोक-गाथा को ठीक-ठीक प्रवन्ध भी नही कहा जा सकता, वह वस्तुत एक व्यक्ति के जीवन एक मार्मिक अग की भावस्पर्शिनी कहानी है और उसका मुख्य प्रयोजन है उम कहानी के द्वारा लोगो मे उत्साह, प्रेम या सेवा का पवित्र आदर्श जगाना। कभी कभी वडे उद्दत पात्रो को लेकर भी उनके जीवन के शिव अग को सामने रखते हुए कहानी गाथा मे ऐसे प्रस्तुत कीये जाती है कि वे पात्र भी उस अग मे शिव वन जाते हैं। वस्तुत लोक-गाथा की परम्परा पुरुप-पूजा की ही एक देन है। लोक-कथा का मुख्य प्रतिपाद्य मनोरजन है, उसमे कथा का कौतुक वनाये रखने का जितना वल होता है, उतना रस-परिपाक पर नही। हाँ परिस्थितियो का चित्रण जिन विम्वो के सहारे किया जाता है, वे विम्व वडे सजीव होते हैं। उच्छल हास्य का सवसे उत्कृष्ट रूप लोक-कथा मे गुम्फित मिलता है और उस हास्य का प्रयोजन कथा मे वीच-वीच मे राहत लाना होता है। साथ ही जीवन, दर्शन और इतिहास के निगूढतम तत्त्व को भी ऐसी सादगी से इनमे उतार दिया जाता है कि कथा-प्रवाह के साथ ही साथ यह तत्त्व मन मे अपने आप तिरते चले आते हैं। उदाहरण के लिये हथिया की कहानी लीजिए, इसमे ऋषि की अपूर्व कल्पना, कालिदास का कुमारसम्भव और महाभारत युद्ध के प्रयोजन, ये सभी वाते एक साथ ऐसी गुथ कर जुड़ी हैं कि भीतरी अर्थ मे पैठने पर वहुत विस्मय होता है कि कैसे इसको परस्पर सम्वद्ध करके एक अद्भुत कथानक वना लिया गया है। सक्षेप में हम यदि यह कहना चाहे तो कह सकते है कि लोक-कथा के शिल्प का मर्म है कथा की कुतूहलवर्धकता। अन्त मे लोक-नाट्य की अपनी अलग विशिष्टता की चर्चा हमे करनी है। लोक-नाट्य का उद्देश्य भी मनोरजन ही होता है। लोक-गीत और लोक-गाथा की तरह उदात्तीकरण या तन्मयीकरण नही, पर दृश्य गुण जुड़ने के कारण इसमे प्रभावोत्पादकता आपातत. आ जाती है। रगमच के विना ही ये खेले जाते है और इनमे केवल वाचिक और आहार्य अभिनय के वल पर सामयिक समस्याओ पर विशेष वल देते हुए जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है। लोक-कथा ही की तरह इसमे भी हास्य एक प्रमुख

अस्त्र है और यहाँ हास्य अधिक सामयिक होने के कारण छिछला होता है। जहाँ कहीं लोक-नाट्य मे गीतो का आश्रय लिया जाता है, वहाँ भाव की गहनता मे अधिक कथोपकथन का चमत्कार ही अधिक प्रयोज्य रहता है। लोगो ने वैसे लोक-नाट्य को लोक-सस्कृति की अभिव्यजना का बहुत शक्तिशाली माध्यम बतलाया है। अत. हमारी दृष्टि मे लोक-नाट्य बहुत अशो तक विकृत रुचियो का ही प्रतिबिम्ब है। लोक साहित्य अन्य तीन प्रकारो के भेद शिव का प्रतिष्ठापक नही है और इसीलिए इसका शिल्प-विधान भी बहुत कमज़ोर है।

इस संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर हम अन्त मे केवल एक चीज और जोड़ना चाहेंगे कि लोक-साहित्य का शिल्प-विधान अचेतन व्यापार नही है। यह ऐसी सामूहिक चेतना का परिणाम है, जो प्रबुद्ध होते हुए भी निरभिमान है। इसी से इस शिल्प-विधान में प्रयत्नकृत होने का आभास नही मिलता, यद्यपि इसके पीछे प्रयत्न हुआ ही नही है, यह कहना इस शिल्प-विधान के सौन्दर्य के साथ अन्याय करना होगा। अस्तु, प्रयत्न इतने बार इतने लोगो द्वारा हुआ है कि उसका लेखा-जोखा देना किसी के लिये भी सम्भव नही है और इतने अधिक प्रयत्नों के कारण ही उसमे यह निखार आ गया है कि प्रयत्न ऊपर से परिलक्षित नही होता। पर जैसे अपने जीवन के व्यवहार में अपनी सस्कृति को कोई जाति प्रकट किये बिना नहीं रह सकती, उसी तरह अपने साहित्य मे भी वह अपने सस्कृति को किसी न किसी रूप मे व्यक्त किये बिना नही रह सकता और सस्कृति अर्जित वस्तु नही है, इससे तो इन्कार वही करेंगे जिसे शास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान न हो। जिस शिल्प-विधान की बात हमने ऊपर की है, वह शिल्प-विधान लोक-व्यापी जीवन के धरातल पर सस्कृति की भावव्यजना ही है। हाँ उसकी ढलाई ऐसी आँच मे हुई है कि उसमे कही भी विरूपता नही दीखती। वस्तुत इसकी प्रत्येक विशिष्टता का विस्तार से अध्ययन होना अपेक्षित है और तभी कुछ हद लोक-साहित्य की सही परख करने मे समर्थ हो सकेंगे।

———

# तुलसी की काव्य-दृष्टि

प्रत्येक कवि की एक अलग साहित्य दृष्टि होती है। वह साहित्यिक परम्परा से, जुडी होती हुई भी, उससे कुछ विलग होती है और जुडने के बाद वही आने वाले युग के लिये परम्परा बन जाती है। हम चाहे तो इस दृष्टि को ही कवि-कर्म का मृणाल मान सकते है। वैदिक कवि की साहित्य-दृष्टि ऋत के चारो ओर केन्द्रित थी। भीतर बाहर और जड चेतन जगत् मे उस ऋत के चक्र का प्रवर्त्तन ही दिखता था और उसका काव्य ही इस चक्र मे अनुस्मृत-शब्दार्थ-व्यापार है। महाभारत की कविता का नालदण्ड है और धर्म का सतत-जाग्रत्-बोध है। एक विशाल धर्म-वृक्ष की कल्पना इसमें की गयी है, इसके मूल है कृष्ण। इसके विरोध मे अधर्म का भी एक वृक्ष है। पर धर्म-अधर्म दोनो व्यष्टि चैतन्य के नही वरन् जातीय चैतन्य के धर्म-अधर्म हैं। प्रत्येक चरित्र अनुलोम-प्रतिलोम भाव से एक व्यापक एव विशाल जातीय धर्म का निर्माण कराता है। प्रत्येक आख्यान उस धर्म के देशगत, कालगत स्तरो की सीमाओ का बोध कराते हुए उसकी दिक्कालातीतता का बोध कराया है और ग्र थ का उद्देश्य एक महान् सघर्ष मे केवल धर्म की विजय का भाव उत्पन्न करके निर्वात दीप-प्रकाश का बोध कराना है। वाल्मीकि की रामायण का केन्द्र है व्यष्टि का सामजस्यपूर्ण आचरण, क्रौञ्चवध का विक्षोभ सामजस्य के विघटन का विक्षोभ है। इस सामजस्य मे व्यष्टि का सम्बन्ध प्रत्येक व्यष्टि से है, चाहे वह पूर्ण चेतन हो, अर्द्ध चेतन हो अथवा प्रसुत चेतन हो। रावण असामजस्य का प्रतिमान है। कालिदास की साहित्य-दृष्टि के केन्द्र मे पर्युत्सुकीभाव है। यथा —

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ः।'

यह है बिछुड़े हुए चिदश से जुडने का भाव। यह जुड़ाई तप से होती है या ताप से। भवभूति के साहित्यिक हृदय का केन्द्र है; 'अमृतामात्मनः कलाम्, चैतन्य का सवेदन इनसे सपुजित होकर जो भारतीय रस-दृष्टि सामने आयी, उसके तीन आधार थे:—

(१) काव्यगत शब्दार्थ—व्यापार का वैलक्षण्य.—

"विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचर ।
स एव सत्कवि गिरां गोचर. प्रतिमाभुवाम् ॥"

(व्यक्ति-विवेक)

(२) (क) प्रतिभा (कारयित्री और भावयित्री) —

"अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्य विशेषो
रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यक्षमत्वम् ॥"

(लोचन)

\+ \+ \+

"विसर्गानन्दधारया सिक्त तदेव सद्विश्व
शाश्वत् नवनवायते ॥"

(तन्त्रालोक)

(ख) कारयित्री दशा मे कवि की वेदना का महत्त्व·—

"कवेरपि भाववास्थायामेव रसास्वाद. सम्पद्यते पृथक् एवहि कवित्वाद् भावकत्वम्"

(३) जगत् का काव्य जगत् मे रूपान्तर·—

'योगियोगसवेदनविलक्षणप्रमुष्टप्रमातृभावदशोपोपितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्य इवाकार इवाभिन्नोपि आस्वाद्यमानो रस. ।'

यह वस्तु जगत् का निर्वैयक्तीकरण, वस्तु-जगत् का विरोध या अभाव नही; यह जीवन का प्रतिबिम्ब नही स्वय परिच्छिन्न जीवन है। वाक्पूत, वाक्संस्कृत जीवन है, जहाँ भक्ति 'परमेश्वर—विषयवैवश्यसमावेशरूपा' है, वहाँ

'रसानुभूति वैवश्य से मुक्त, स्वयपूर्ण है। रस का आधार सामजस्य, स्वातंत्र्य एवं स्वप्रकाशता है। तुलसी की काव्यदृष्टि ने इस रस-दृष्टि को आगे बढ़ाया। रस और भक्ति का अविनाभाव स्थापित किया।

"भनिति विचित्र सुकवि कृति जोऊ।
राम-नाम बिनु सोह न सोऊ॥
भनिति भदेस वस्तु भक्ति बरनी।
राम कथा जग मगल करनी।"

+ + +

"रघुपति-महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥
रामसीय जस सलिल सुधासम।
उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई।
जुगुति मजु मनि सीप सुहाई॥
छद सोरठा सुंदर दोहा।
सोइ बहुरग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा।
सोइ पराग मकरद सुबासा॥
सुकृत पुज मजुल अलिमाला।
ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती।
मीन मनोहर ते बहु भाँती॥
अरथ धरम कामादिक चारी।
कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥
नव रस जप तप जोग बिरागा।
ते सब जलचर चारु तड़ागा॥'

इस प्रकार शास्त्रीय रस बहिर्भूत है मुख्य आधार है, राम सीता का यश।

दृष्टि दृश्य मे विलीन हो गयी है। इसीलिये उसको ग्रहण करने मे वे ही समर्थ हैं; 'जिन्ह के विमल विवेक,' क्योकि इसमे —

"अति खल जे विषयी बग काला।
एहि सर निकट न जाहि अभागा॥"
+ + +
"शम्बुक भेक सेवार समाना।
इहाँ न विषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हिय हारे।
कामी काक बलाक बिचारे॥"

तुलसी दास ने विषय का निर्वैयक्तीकरण नही किया वरन् व्यक्ति का ही निर्विषयीकरण किया है। इसलिये वे ये माँग करते है कि.—

"अस मानस-मानस चख चाही"

इस नवीन दृष्टि के लिये जिस वाक् के माध्यम की अपेक्षा की थी, वह तुलसीदास को अपर्याप्त लगती है। काव्य की विशिष्ट भाषा, प्रत्यक्ष अनुभव की भाषा भी इसको वहन करने मे असमर्थ है। तभी बार-बार वे कहते है —

"वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥"

जहाँ कही लोकातीत सौन्दर्य, लोकातीत मनोदशा, लोकातीत ऐश्वर्य, लोकातीत वेदना का चित्र प्रस्तुत करना रहता है, वहाँ कवि कर-जोड़ कर खड़ा हो जाता है —

"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।
कवन प्रकार कहै कवि कोऊ॥"

(राम-सीता का प्रथम दर्शन)

"सीय बरनि तेहि उपमा देई।
कुकवि कहाइ अजस को लेई॥"
+ + +
"सो मति मोरि भरत महिमाही।

कहइ काह छलि छुअति न छाहीं ॥"
\+ + +
"कविकुल अगम-भरत-गुनगाथा ।
को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥"
\+ + +
"कबिहिं अरथ आखरबल साँचा ।
अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा ॥
अगम सनेह भरत रघुबर को ।
जहँ न जाइ मनु बिधि-हरिहर को ॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती ।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती ॥"

यह अयथेष्टता तुलसीदास को अपनी विनय-पत्रिका मे निवेदित करते समय और सालती है —

"कहे बिन रह्यौ न परत,
कहे राम रस न रहत ॥
\+ + +
"कह्यौ न परत, बिनु कहे रह्यौ न परत, बडो सुख कहत"

इन दोनों पक्तियो मे वैसे देखने मे एक विरोध है, पर इस विरोध की शांति तुलसीदास जी ने वाक्-व्यापार के अमूर्ततम रूप को उत्कृष्ट मानकर करा दी है। जब वे निर्गुण एव सगुण की साक्षी के रूप मे नाम का स्मरण करते हैं और रूप को नाम के अधीन बतलाते है तो नामात्मक ईश्वर की उपाधि को एक अमूर्त और इसीलिये समर्थ वाचक के रूप में ग्रहण करते हैं। इस नाम के माध्यम से ही अपर्याप्त भाषा पर्याप्त बन जाती है। वस्तुत. नाम का स्मरण सन्तो के उस नाम के अभ्यास की साधना का स्मरण है, उस नाम के सहारे अपने को सीमित जगत् से खीचकर असीम जगत् मे स्थापित करने की साधना का स्मरण है। और केवल कवि के अनुभूत-सत्य के रूप मे नही वरन् साधक कवि के अनुभूत-सत्य के रूप मे तुलसीदास जी ने राम को ग्रहण किया और तब उनकी

समस्या का समाधान हो गया और शब्द-व्यापार को एक नयी शक्ति उन्होंने प्रदान की।

"ब्रह्मसुखहि अनुभवहि अनूपा।
अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥"
+ + +

'आखर अरथ मंजु मनमोहक राम प्रेम पग पागि है।'

तुलसीदास जी ने काव्य के प्रयोजन का भी विस्तार किया है। काव्य का प्रयोजन, काव्य की परंपरा में परिनिष्ठित सहृदय की क्षणिक परिनिवृत्ति नहीं है उससे ऊपर उठ कर सामान्य भाषा, ग्राम्य गिरा, भदेस भनिति, कवित्व के विवेक से रहित, वक्रताओं से अपरिचित, सीधे-सादे विश्वास, प्रेम और जीवन के पीछे जाने वाले जन सामान्य-जन को राममय बनाना है। राममय बनाने का अर्थ ही है कि लोक को मंगलमय बनाना, क्योंकि लोक-मंगल के लिये साधन भूत नर-शरीर धारण करके ही राम, राम बने है।

"हृदय-सिंधु मति सीप समाना।
स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरखइ बरबारि बिचारू।
होहिं कवित मुकुता मनि चारू॥"

"जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥"

कवित्व का सौन्दर्य रामचरित रूपी तागे में विवेक से बिंधे बिना अर्थहीन हो जाता है और यह मुक्तामाला भी सज्जन के उर में विराजे बिना निरभिप्राय हो जाती है।

"तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।"
+ + +
"कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुर-सरि-सम सब कहँ हित होई।"

जैसे उद्धरणो से आचार्य शुक्ल जैसे समर्थ आलोचको ने साहित्य की प्रेषणीयता का काफी मथन किया है; पर मैं समझता हूँ कि प्रेषणीयता तुलसीदास की साहित्यिक दृष्टि के सदर्भ मे एक हल्का शब्द है। तुलसीदास दूरी कम करने के लिये सहज भाषा, सहज बिम्ब का प्रयोग करते हैं, ऐसी बात नही। वे सबसे सीधे विश्वास को ऐसी अभिव्यक्ति देना चाहते हैं कि वह अभिव्यक्ति उनकी अपनी न रह जाय। वे अपने को एक संस्कृति की, एक जाति की अभिव्यक्ति का अग बना देना चाहते हैं और इसीलिये वे अपना अधकार नही बँटाते, रामचरितमानस मे वे अपनी ज्योत्स्ना बँटाते हैं। यह ज्योत्स्ना विवेक के चन्द्रमा, विश्वास के साकार रूप श्रद्धा के प्राणलोक के मगल के लिये ही विष, श्मशान चिता भस्म, दिगम्बरता का वरण करने वाले शिव से प्रकाशित हैं।

"भनिति मोरि शिवकृपा विभाती, शशि समाज मिलि मनहुँ सुराती।"

उन्होने दुराव दूर किया है क्योकि दुराव मे, सशय में राम नही मिलते। रामचरितमानस की कारयित्री प्रतिभा की समूची वेदना केन्द्रित है इस सशय मे कि दशरथ-सुत राम दूसरे शब्दो मे कवि के मानस के राम परब्रह्म नही है। शिव पार्वती के सशय को ( या यो कहे )—तुलसीदास क्षमा नह करते। वे इस बात को जानते हैं कि.—

"जानहु गिरा के स्वामी बाहर अंतरजामी,
यहाँ क्यो दुरेगी बात मुख की और हिय की ॥"

छल विराट्ता के बोध के आगे नही होता और अभिव्यक्ति की ऋजुता मौलिकता के अभिमान को खोकर आती है, अपने अनुभव की अकिंचनता का निरावरण करके आती है। तुलसीदास जी अपने विशिष्ट अनुभव का उत्सर्ग कर देते हैं और यह सभव बना देते हैं कि सामान्य भाषा भी काव्य की विशेष भाषा नही। नयी काव्य-सृष्टि अपूर्व वस्तु के निर्माण का वहन कर सके, अतः परम्परा को स्वीकार करते हुए भी वे इसीलिये अपनी परम्परा से विलग है। वे परम्परा का उपयोग इसलिये करते हैं कि परम्परा कवि-कर्म की आधारशिला है, वरना वे परम्परा को पीछे छोडने वाले कवि-कर्म के नये द्रष्टा है। उनकी दृष्टि इसीलिये प्रत्येक युग के कवि के लिये नवीन प्रेरणा है।

# तुलसी का मानस — विवेक का काव्य

भक्ति आन्दोलन से सम्बन्ध मे सबसे बडी भ्रान्त धारणा यह फैली हुई है कि यह आन्दोलन ज्ञान और विवेक का, कर्म और सामाजिकता का विरोधी आन्दोलन रहा है। यदि ध्यान मे भक्ति-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कृति गोस्वामी तुलसीदास के केवल एक काव्य-रामचरितमानस को ही पढा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि विवेक और भक्ति में विरोध नही है और हिन्दू-धर्म ने सत्य और विवेक पर बल और अधिक बढाया है, कम नही किया है।

रामचरितमानस पर सस्कृत के काव्यो मे सबसे अधिक श्रीमद्‌भागवत का प्रभाव पडा है, श्रीमद्‌भागवत यदि परमहसो की संहिता है तो मानस उन परमहंसो की लीलाभूमि है।

रामचरितमानस की न केवल कथा-योजना श्रीमद्‌भागवत से मिलती-जुलती है, बल्कि दोनो की तान एक ही विन्दु पर आकर मिलती है। निर्गुण हो कर भी परब्रह्म सगुण लीला कैसे करते है, बार-बार दोनो ग्रन्थो मे यह सशय उठता है कि लीला के लिये अवतार लेने वाले परब्रह्म परमेश्वर है कि नही और यदि हैं तो उनकी लीला का रहस्य क्या है। और बार-बार यह उत्तर मिलता है कि "अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।" दोनो में वक्ता-श्रोता के चार पटल है श्रीमद्‌भागवत मे सूत-शौनक, शुक-परीक्षित, मैत्रेय-विदुर, कृष्ण-उद्धव तथा मानस मे, तुलसी-पाठक, शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और कागभुशुण्डि-गरुड। श्रीमद्‌भागवत के प्रमुख वक्ता हैं, शुक जो मानस के प्रमुख वक्ता है शिव जो "विवेक जलनिधि के पूर्णेन्दु" है तथा जो परमहस है। "विश्वास के रूप" है। दोनो ग्रन्थो के अत मे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति

का सिद्धान्त निरूपण है। दोनो मे परम्परा का खण्डन किये विना, शास्त्रार्थ का निषेध किये विना, व्यवस्था को अस्वीकार किये विना, कैतवरहित धर्म का इस प्रकार काव्य-चरितो मे रूपान्तर है कि ईश्वर विवश हो कर काव्य के शब्दो मे बँध जाता है।

दोनो मे भक्ति का आदर्श कैवल्य या पुनर्जन्म से मुक्ति नही है। भक्ति का आदर्श है लोक के, विश्व के कल्याण के लिये जीवन, पर-सन्ताप से द्रवित होने वाली मनोवृत्ति ही भक्ति का पर्याय है।
( शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्त मश्लोकपरायणा जना । जीवन्ति नात्मार्थम्—)

"सन्त विटप सरिता गिर धरनी परहित हेतु समन की करनी।
निज परिताप द्रवै नवनीता परदुख द्रवहि सत सुपुनीता ।।"

पर इन तमाम समानताओ के बावजूद दोनो के स्वर एक दूसरे से विशिष्ट हैं। श्रीमद्‌भागवत के कथानायक श्रीकृष्ण की अभिव्यक्ति उनके विविध चरितो मे सम्भव है, पर मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की अभिव्यक्ति उनके भक्तो के द्वारा अधिक सम्भव है, क्योकि वे स्वय मर्यादामय होने के कारण उतने विलक्षण नही है जितने श्रीकृष्ण, जो लोक के हित मे ही लोक-निरपेक्ष और मर्यादा-निरपेक्ष है, इसके अलावा और भी गहरा अन्तर है काव्य-योजना में। श्रीमद्‌भागवत वेदरूपी कल्प-तरु का रसमय फल है अर्थात् ज्ञान की काव्य मे परिणति है, जबकि मानस काव्यमय अनुभव का लोक-बोध के रूप मे परिणाम है, भागवत के ऊपर काव्यत्व आरोपित है और मानस के ऊपर शास्त्रत्व आरोपित है। मै मानस की बड़ाई उसके बाइबिल की तरह घर-घर प्रचारित होने मे उतनी नही मानता जितनी कि कवि-बुद्धि को विमल करने वाली इसकी शक्ति मे मानता हूँ। गोस्वामी जी ने स्वय स्पष्ट किया है, 'अस मानस-मानस चख चाही'। श्रीमद्‌भागवत पण्डितो का ग्रन्थ है, मानस कवियो का ग्रन्थ है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी स्पष्ट होता है कि श्रीमद्‌भागवत मे क्यो यह कहा गया है कि जब तक दीपक घी की बत्ती से एकाकार है, तभी तक वह धूमिल ज्योति देता है, जब वह शिखामय हो जाता है तब वह अपने स्वरूप को

पा लेता है (यथा प्रदीपो घृतवत्तिर्मश्नन् शिखाः सधूमाः भजति ह्यन्यदा स्वम् । पद तया गुणकर्मानुबद्ध वृत्तिर्मन. श्रयतेन्यत्र तत्त्वम् ।।)
और मानस मे यह कहा गया है कि "राम भगति चिन्तामणि सुन्दर, वसै गरुड़ जाके उर अन्दर । परम प्रकास रूप दिनराती, नही कछु चहिय दिया-घृत वानी ।'

तुलसीदास जी ने अपने मानस मे जिस विवेक को मुखर करने का व्रत लिया है उसके दो पक्ष हैं–एक सिद्ध, दूसरा साधक । सिद्ध पक्ष हैं शिव, जो कि राम की कथा के मर्मज्ञ हैं, उपदेष्टा गुरु हे और कवि के प्रत्येक अनुभव के साक्षी हैं । विनयपत्रिका मे भी "शकर साखि जौ राखि कहौं कछु तौ जहि जीर गरौं" यह कह कर अपनी निष्ठा का साक्षी उन्हे वनाया गया है । यह मानस वस्तुत. शिव का ही मानस है । शिव की कथा से प्रारम्भ करने का उद्देश्य ही यही है जैसे सती ने शिव की वात न मानी और उन्हे तन त्याग करना पडा, वैसे ही विवेक का स्वर जो नही सुनता है, उसको कष्ट झेलना होगा । विवेक गुरु की कृपा का प्रसाद है और विवेक के नेत्रो के विना भवमोचन रामचरित का वर्णन असम्भव है । तुलसीदास जी भले ही यह कहे "कवित विवेक एक नहिं मोरे," उन्हें पूर्ण विश्वास है "भनिति भोर सव गुण रहि विश्व विदित, गुन एक सो विचारि सुनिर्हाहि सुमति जिनके विमल विवेक ।" विवेक की ही दृष्टि से उनके 'मनि सीप' मे 'चारुकवित' की जो मुक्तामणि जन्म लेती है और जिनके मन में विमल विवेक है, उन्हीसे कवि आशा करता है कि रामचरित की अनन्तता सुनकर उन्हे आश्चर्य नही होगा । सिद्ध विवेक प्रेरक प्रकाश के रूप मे है । यह प्रकाश राम-नाम की तरह मूर्त और अमूर्त सगुण और निर्गुण की सन्धि है । तुलसीदास का विवेक शिव की तरह ही अवधूत है । लोकवाह्य लोगो को भी अपने साथ लोकयात्रा मे ले जाने वाला है, कामारि होते हुए भी वह "काम जारि रति कहुँ वर वीन्हा" काम को जलाता है, पर रति को वर देता है, इस तन से सती से न भेंट करने का संकल्प करता है, पर सती के शरीर के शव को सारे ससार मे ढोता है । विवेक के लिये कुछ भी अमगल नही है और विवेक के लिये कोई अभेद्य नही, क्योकि उसके जटाजूट मे मगल की

धारा का प्रवाह है और ललाट मे जहाँ एक ओर विध्वंस करने वाला तृतीय नेत्र है, जिससे विवेक के लिये मृत्यु का भय कोई नही है, दूसरी ओर अमरत्व की साधना के रूप मे चन्द्रमा की षोडशी कला विद्यमान है। पर शिव विवेक की प्रक्रिया नही है, सिद्धावस्था हैं। शिव को विवेक का प्रतीक मानने का दो ऐतिहासिक कारण भी है। शिव भारतीय कल्पना मे सर्वग्राहिता के प्रतीक है और साथ ही वे सर्वज्ञ होने के कारण वास्तव मे सब कुछ मे से शिव ही ग्रहण करने वाले हैं, वैष्णव भाव-धारा मे एकान्त निष्ठा की ओर अधिक झुकाव हो जाने के कारण व्यापक हिन्दू समाज की अनेक ऐसी आस्थाओ का या तो एकदम वर्जन किया गया या उनकी ओर से आँख मूँद ली गयी। शिव को गुरु रूप मे और साक्षी रूप मे तुलसीदास ने देखा, उसका अभिप्राय वैष्णव भक्ति के पाट का विस्तार करता था। वे सम्प्रदाय मे दीक्षित भलेही हुए हो, पर वे सम्प्रदाय से अपनी कृति के द्वारा जो एकदम ऊपर उठ गये, उसके मूल मे शिव का अनुध्यान है। यह प्रयत्न केवल ऊपरी सतह पर शैव-वैष्णव सघर्ष को मिटाने के लिये नही है, जैसा कि प्राय समझा जाता है। यह प्रयत्न निखिल जीवन-दृष्टि को समग्र बनाने के लिये है। दूसरा कारण यह है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मे शिव स्वातन्त्र्य और सामरस्य की स्थिति है और प्रत्यभिज्ञा के द्वारा इस रूप का विमर्श ही परम पुरुषार्थ है। तुलसीदास जी को लगा कि सामाजिक जीवन से सामरस्य, पर व्यक्तिगत जीवन मे वरण का स्वातन्त्र्य, यही पारमार्थिक विवेक का सही रूप है। इसलिए उनकी भक्ति का ढग विधि-निषेध की गहरी महिमा से प्रतिच्छादित नही है, उसके ऊपर उज्जवल नीलमणि की झाई नही है, "राम भगति वर सुरसरि धारा" कहने का अभिप्राय यही था कि यह अधिक से अधिक को आत्मसात् करने वाला भावक प्रभाव है, अनेक रगो को अपने मे घोलकर शुद्ध बना देने वाला पदार्थ है। शिव का वरण स्वातन्त्र्य का वरण है, वे कैलाश की उपत्यका छोड कर 'अनन्त रत्न प्रभव हिमालय' का ऐश्वर्य छोड़ कर महाश्मशान मे आकर बसते हैं और हाथ मे कपाल लेकर दु:ख की भिक्षा माँगते हैं। शिव की समरसता का सबसे अधिक अनुभाव्य रूप यह है कि वे शिल्प, नृत्य, सगीत सभी ललित कलाओ के आचार्य हैं, उद्गम हैं। उनके डमरु

के निनाद के साथ समस्त चराचर जगत् का ताल मिला हुआ है। वे आपामार जन को तारक मन्त्र देने वाले अघोरी है, यही कारण है कि भारतीय लोक-जीवन मे शिव मानवीय प्रतीक न होते हुए भी अत्यन्त आत्मीय के रूप मे चित्रित किये गये है। वे लोक-भावना को अपना सर्वस्व जैसे अर्पित कर चुके हों, उसी प्रकार जैसे कि पार्वती को सब तालो की चाभियाँ सौप चुके हैं। यह लोक-भावना सहज श्रद्धा है, जगत्धात्री है, पराशक्ति है और किसी भी हिन्दू लोक-जीवन मे विवाह जैसे पवित्र सम्मिलन की वेला की अधिष्ठात्री देवी है। गौरी-पूजन का अभिप्राय शिव के साथ समरस लोक-भावना के प्रति अपने को अर्पित करना है। शिव को विवेक की सिद्धावस्था इसलिए भी कहा गया है कि इस विवेक को हम जीते जागते सत्य के रूप मे जाने-अनजाने स्वीकार किये हुए है। यह अनुष्ठान के हर कोने से जागता है, उत्सव के हर क्षण मे प्रतिध्वनित होता है और ध्यान के प्रत्येक पटल मे उन्मीलित होता है। तुलसीदास ने इसीलिए अपना प्रबन्ध-काव्य शिव-उपाख्यान से प्रारम्भ किया है और राम की वन्दना के पहले उन्होने भवानी और शकर की वन्दना की है।

विवेक की इस सिद्ध भूमिका के बाद गोस्वामी जी ने विवेक के साध्य रूप को बडी सावधानी से और बार-बार क्षमा-प्रार्थना पूर्वक सामने रखने का उपक्रम किया है। वह साध्य रूप हैं भरत।

ऊपरी दृष्टि से मानस पढने पर यह लगता है कि भरत के चरित्र को इतना अधिक उभाड़ कर कवि ने प्रबन्ध को कुछ असन्तुलित कर दिया है। मुख्य पात्र राम से भी अधिक बल भरत पर देकर उन्होने नेता की उपेक्षा की है, पर गहराई मे जाने पर यह अपरिहार्य लगता है, क्योकि कवि राम का चरित गा रहा है और रामचरित के ऐसे मानस की सृष्टि कर रहा है, जिसमे दुर्दिन के दिनो मे परमहस विश्राम पा सके। रामचरित की विशेषता यही है कि वह राम से अधिक राम-भक्त मे है, क्योकि राम स्वय पारमार्थिक रूप से क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा इच्छाशक्ति से परे है। राम का अवतार ही भक्त की साधना से प्रेरित होता है। इसलिए रामचरित की सबसे सशक्त अभिव्यजना भरत मे ही सम्भव हुई। विवेक की साध्यावस्था रामचरित की तरह बहुत गूढ और

अतर्क्य है। ऐसा लगता है कि इस प्रक्रिया को तुलसी ने भक्त की अग्नि-परीक्षा मान ली, तभी तो विदेह जनक के मुँह से यह निकलता है—"धर्म राज नय ब्रह्म विचारू इहाँ जथामति मोर प्रचारू। सो मति मोर भरत महिमाही कर्हहि काह छल छुअति न छाही" और वसिष्ठ की मति, भरत की महिमा की महान् जलराशि के सामने अबला सी ठगी सी रह जाती है। कौशल्या को भरत का निगूढ प्रेम चिन्तित कर देता है, क्योकि वे जानती है कि विवेक के इस सघर्ष को झेल लेना स्वय राम के लिये कठिन है, यही कारण है, जब सीता भरत के आने का स्वप्न की बात राम को सुनाती हैं, तो राम कहते हैं— 'लखन सपन यह नीक न होई, कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।" कठिन इसलिए कि राम का भक्तवत्सल अन्त करण द्रवित हुए बिना रह नही सकता और कुचाह इसलिए कि विवेक की साध्यावस्था की पहली पर्त हमेशा पूर्वपक्ष होती है। विवेक के इस रूप को मात्र निष्ठा से या निश्शेष समर्पण से नही समझा जा सकता है। इसीलिए लक्ष्मण और निषादराज गुह के मन मे भरत के मनोभाव के सम्बन्ध मे आशंका होती है। राम के द्वारा पहले ही कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "सगुन छीर अवगुन जल ताता मिलइ रचइ परपच विधाता। भरत हस रवि बस तडागा, जनम कीन गुन दोष विभागा।" दूसरे शब्दो मे भरत विवेक के अवतार के रूप मे सूर्यवश मे पैदा हुए हैं। पर यह विवेक केवल गुण-दोष विभाग ही नही करता, यह गुण और गुणातीत का भी विभाग करता है। भरत विवेक को उस भूमिका मे पहुँचाते हैं, जहाँ न तो भगवान् की नित्य सेवा का सुख है या भगवान् के विरह का तीव्र दु.ख। न उन्हे आह्लाद है, न उन्हे ताप। वे धरोहरी की निस्पृहता और सतत् जागरूकता के प्रतीक बन जाते हैं। गान्धी जी ने इसीलिए भरत के चरित्र मे जनतन्त्र का सच्चा आदर्श पाया। विवेक सघर्ष की वह भीतरी प्रक्रिया है, जिसमें धीरे-धीरे वरण की स्वतन्त्रता भी भक्त प्रभु को सौंप देता है। जो इस प्रक्रिया को नही समझ सकते, वे देवता हो या मनुष्य हो सशय करेगे ही। हो सकता है कि कथानक के विकास के लिये उत्कण्ठित बालमति लोगो को भरत के अनुताप और ग्लानि के वर्णन मे अतिरेक ही दिखायी पड़े, पर इतना लम्बा वर्णन केवल इसलिए किया गया

है कि आगे जाने वाला धरातल भावगम्य हो सके। भरत की ग्लानि राम को लेकर नही है, लोक को लेकर है। विवेक लोक की उपेक्षा गवारा नही कर सकता। लोक-भावना से ही भावित होकर भरत चित्रकूट जाते है और उनके साथ समस्त परिजन भी जाते है। भक्त और भगवान् इन दो आयामो के अतिरिक्त एक तीसरा आयाम है लोक। भक्त भगवान् से भावित हो या भगवान् भक्त से भावित हो, केवल यही नही काम्य है, बल्कि भक्त और भगवान् से लोक-भावित हो तथा लोक से भक्ति भावित हो, यह भी काम्य है। आज आधुनिक कविता मे जो अपने को अजनबी वना देने की विवशता है, उसके मूल मे भी विवेक का यह स्वर है। पर यह स्वर खतरनाक भी कम नही है। सत्ताधीश घबरा जाते हैं, नियामक चिन्तित हो जाते है और लोक-यात्रा स्तम्भित हो जाती है, ऋतु का चक्र विश्रृङ्खल हो जाता है, सत्य का भविष्य अन्धकारमय लगने लगता है, भीड के अनियन्त्रित उल्लास मे विवेक का स्वर खो गया तो वह विवेक व्यर्थ गया। आत्म-निषेध मे विवेक सो गया तो विवेक की साधना व्यर्थ गयी। तुलसीदास का विवेक ऊपर उठता है, भीड के दुःख को छोड़ कर नही, उस दुःख के भार को कन्धे पर लेकर ऊपर उठता है, पर इतने एकदम नही। साक्षात् भगवान् जब भक्त के आगे हथियार डाल देते हैं, तव इसको उठने का मौका मिलता है, सेव्य जब सेवक वन जाता है, तव सेवक सेवा का अधिकार छोड़ देता है, और उत्तर मे आज्ञा-पालन का दायित्व ले लेता है। उसके लिये प्रिय-अप्रिय कुछ नही रह जाता है। वस, एक कर्तव्य रह जाता है; समर्पित प्रभु की आज्ञा का पालन रह जाता है। प्रभु ने भी राज्य-सुख भोगने की आज्ञा नही दी, प्रजापालन-धर्म निबाहने की आज्ञा दी और अपने सत्यसन्धव्रत मे बाधक न वनने की आज्ञा दी। इस आज्ञा को भरत ने जिस रूप मे स्वीकारा है वह अपने आप मे काव्यानुभव का चरम उत्कर्ष है। वे शरद् ऋतु की नदी की तरह जल घटने पर भी निर्मल हो जाते है। देह जितनी ही क्षीण होती है, तेज उतना ही वढता जाता है। राम वन मे भी उतने ही गृहस्थ है और भरत घर मे भी सन्यासी है। असिधारा-व्रत का ऐसा उदाहरण विश्व-साहित्य में अप्रतिम है और इसकी प्रक्रिया गोस्वामी की ही काव्य-प्रतिभा का

प्रसाद है, इतनी जटिल होते हुए भी इतनी सहज बना दी गयी है कि वह भावगम्य हो सके। भरत का असिधाराव्रत सामान्य विवेक का परिणाम नही है, वह परिणाम है भगवद्-भावित स्निग्ध विवेक का। भरत राम का निर्वाह करते हैं, इसलिए वे एक साथ प्रजा, राजा और सेवक इन तीनो के कर्त्तव्य की भूमिका निभा पाते है। वे भरद्वाज के शब्दो मे "भरे देह जनु राम सनेहू" हैं और इसीलिए "जग जपु राम राम जपु जेही", राम को जग जपता है और राम उन्हे जपते हैं। जनक ने भरत को ठीक ही पहचाना है कि "भरत अमित महिमा सुन रानी, जानहि राम न सकहि बखानी," और वे एक बीच का रास्ता सोचते हैं 'राम के साथ भरत वन मे जाये' राम का व्रत पालन हो, भरत को सेवा का अवसर मिले, साथ ही उनके त्याग की महिमा लोक मे विदित हो और लक्ष्मण अयोध्या जाये'। दूसरे ही क्षण उन्हे इस बीच वाले रास्ते मे सशय हो जाता है, यह तो भरत के एकनिष्ठ प्रेम मे विश्वास करना हुआ, और वे कहते है—"भरत अवधि सनेह ममता की, यद्यपि राम सील समता की। परमारथ स्वारथ सुख सारे, भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे। साधन सिद्धि राम पगनेहू, मोहि लख परत भरत मत एहू।" राम ने भरत से जब यह कह दिया "सो तुम करहु करावहु मोहू," तब भरत ने अपूर्व अवसर पाया कि परमसन्तोष-पूर्वक राज्य के भार को स्वीकार कर ले, प्रभु के ऊपर भार न देकर अपने ऊपर ले ले। विवेक की प्रारम्भिक प्रक्रिया मे जितनी ही पीडा हुई थी, उतना ही सुख उत्तर-प्रक्रिया मे मिलता है। जब पानी अपनी सतह पा जाता है, तब उसकी पिछली आकुलता भूल जाती है। कवि ने इस सतह पाने की प्रक्रिया को इसीलिए 'सहज' कहा है,

"राम पेम भाजन भरत बडेहि न एहि करतूति

चातक हस सराहियत टेक विवेक-विभूति।" भरत चातक की एक-निष्ठा तथा हस के विवेक दोनो के एकीकृत रूप है। इसीलिए उनके लिये विवेक की यातना से गुजरना उतना कठिन नही है, जितना गीता मे अर्जुन के लिये। अर्जुन हंसवृत्तिवाले नही हैं, वे चातक वृत्तिवाले है और वह भी अनन्य भाव से तब, जबकि मृत्यु के भय ने उन्हें घेर लिया है। इसलिए

मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिये अमरत्व का विवेक ही पर्याप्त है। अर्जुन को जो कुछ भी सन्देह है, वह विराट् रूप के दर्शन से दूर हो जाता है और तुरत वे कहते हैं कि मैं इस विराट् रूप को झेल नही सकता। वे आत्मीयता की छाया देनेवाले सत्य को ही स्वीकार सकते हैं। भरत की निष्ठा बडी है, क्योकि वे विराट् सत्य को झेल सकते हैं, अपने आत्मीय सत्य का वियोग भी स्वीकार कर सकते हैं उस विराट् सत्य के लिये।

यहाँ कुछ अधिक विस्तार मे शिव और भरत के द्वारा विवेक के स्वर को भाषा देने की चेष्टा की गयी है। स्वय राम के बारे मे कुछ नही कहा गया है, क्योकि राम को समझने के लिये और राम के परब्रह्म रूप से सम्बन्ध को समझने के लिये इन दोनो के 'चतुर द्विभाषी' राम-नाम को समझना आवश्यक है। नाम के ऊपर तुलसी का यह विश्वास और यह विश्वास क्यो है, यह जाने बिना मानस का अवगाहन सम्भव नही है। केवल यह कहना कि तुलसीदास जी ने नाम की साधना करने वाले निर्गुण सन्तो से अपने को जोडने की चेष्टा की है पर्याप्त कारण न होगा। वस्तुत तुलसीदास उस वाक्-परम्परा के कवि है जिसमे वाणी और अर्थ सम्पृक्त माने जाते रहे हैं, जिसमे वाणी सारे ससार को जोड़ने वाली शक्ति के रूप मे प्रवाहित मानी जाती रही हो और जिसमे शब्द ब्रह्म को अनादि-निधन माना जाता रहा हो। वे सच्चे अर्थ मे बुद्धिवादी (इण्टेलेक्चुअल) है, आज के सशयजीवी अर्थ मे नही। नाम को तुलसीदास जी कल्पतरु मानते हैं, यही नही वे शब्द-ब्रह्मवादियो से भी एक पग आगे चले जाते है और कहते हैं कि नाम सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनो से बडा है। मन्त्र-साधना की दृष्टि से इसका महत्त्व साधक ही जाने, साहित्यकार के लिये यह एक बहुत बड़ा सकेत है। अपने गहन-से-गहन आध्यात्मिक अनुभव को यदि सार्थक बनाना है तो केवल शब्द के द्वारा बनाया जा सकता है, ऐसे शब्द के द्वारा जिसकी अर्थवत्ता विवर्त्तशील होकर एक बनी रहती है। नाम शब्द नही, शब्द-के बहाने विज्ञान की परम्परा है। तुलसीदास जी ने काव्य के अनुभव का आयाम विस्तृत करने मे जो इतनी सफलता पायी, उसका कारण इस विज्ञान का लोकोत्तर विवेक था।

राम को चरितनायक बनाने का उद्देश्य केवल एक था। सत्य और ऋत के चक्र की मर्यादा और प्रगति की समवेत गति को तथा समाज और व्यक्ति की समरसता को तथा सन्त और सामान्य जन के समागम को नयी शक्ति से प्रवर्तित किया जाय। कुमारस्वामी ने हिन्दू धर्म के बारे मे बहुत पते की एक बात कही है "हिन्दू धर्म ठीक-ठीक कहा जाय तो ऋत का धारण है। हिन्दू क्या वह विश्वास करता है तथा क्या वह करता है, इतने से हिन्दू नही हो सकता, हिन्दू होने के लिये सोचना यह है कि जो वह करता है, उस कर्म मे वह कौशल दिखलाता है कि नही और अपने कार्य को सामाजिक ऋतु की अखण्डता मे साधक बनाता है कि नही,—वह इस चक्र मे रहकर ही इस चक्र के भीतर से मुक्ति पाने का प्रयास करता है या नही–यह स्मरण रखने की बात है कि कर्म नियति नहीं है, बल्कि स्वय-सर्जक शक्ति है, माया भ्रम नही है, बल्कि एक मापदण्ड है और हिन्दू परम्परा इसी से अपने शाश्वत अनुभव के स्वत्व का दावा नही करती है, उसमे किसी भी अनुभविता को साझीदार बनाने के लिये प्रस्तुत रहती है।" इस दृष्टि के आलोक मे मानस एक अद्वितीय उपलब्धि है। राम का चरित हिन्दू के लिये आराध्य इसलिए है कि वह राम की तरह ही शान्त होते हुए भी कायर नही है, सत्य-सन्ध होते हुए भी सत्य का मसीहा नहीं, दूसरो का विश्वास छीने बिना उन्हे अपना प्रेम दे सकता है। तुलसीदास ने इसी सार्वभौम आदर्श की पूर्ति राम के माध्यम से की। आज विश्व मे दूरियाँ बढ़ गयी हैं, भीतर और बाहर दोनो। प्रत्येक व्यक्तित्व दो भागो मे खण्डित है–एक को जीने का मौका मिल रहा है, एक अनजिया है। अनजिया व्यक्तित्व रावण की तरह दशमुख से गरज रहा है। इस युद्ध से त्राण जीवित व्यक्तित्व के अभ्युदय में नही है, बल्कि उसके विवेक मे है कि वह अपने अनजिये विद्रोही व्यक्तित्व को घृणा की दृष्टि से न देखे, उसकी निषेधात्मक शक्ति को, उसकी प्रतिहिंसा को सहज भाव से दबाये। उसके सामने विरथ होकर ही जाय और उसे वश मे करे। पश्चिम की बुद्धि-जीवी सस्कृति इस विवेक के लिये छटपटा रही है। अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका और अमरीका के दक्षिणी राज्यो की सांस्कृतिक विजय इसमे खोखली दिखने लगी है। इसका कारण बुद्धिवाद नही है, इसका कारण है बुद्धिवाद और मतवाद

का, विज्ञान और ईसाइयत का असमाधेय संघर्ष । पश्चिमी जन मत के आग्रह से एक ओर दबे हुए है, दूसरी ओर बुद्धिवाद के मसीहा भी बन गये हैं । उनसे दोनों बोझ सँभाले सँभल नही रहे हैं और हम है कि उनकी इस लगड़ी बुद्धिवा, दिता की लीक पीटे जा रहे हैं । बुद्धिवाद और विवेक ये दोनो हमारी ही पर-म्परा के अङ्ग हैं, अन्तर केवल इतना हैं कि हम अपने को बुद्धिवादी कहने की जरूरत महसूस नही करते । आज आवश्यकता इस बात की है कि हम यह जरूरत महसूस करे क्योंकि "देशी कौवा मराठी बोल" वाली उपहसनीय स्थिति हमारे लिये बड़ी घातक है । हम अपनी बोली पहचानें, तभी अपने स्वरूप की सही पहचान हमे होगी । इस पहचान के लिये तुलसी के मानस से बढकर कोई निर्मल मुकुर न होगा ।

---

# रस सिद्धांत की सीमा

रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे नगेन्द्र जी ने ठीक ही कहा है कि "जिसने पढा और समझा है, वह प्राचीन धारणाओ को एकदम रूढ मान बैठा है और जिसने पढने और समझने का यत्न नही किया, वह कुछ उड़ती हुई बातो को लेकर अनर्गल आलोचनाएँ कर रहा है।" रस-सिद्धात न तो अपने रूढ मे अनादि है, न सर्वथा सिद्ध और शाश्वत मानदण्ड ही। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और अश्वघोष ने कम-से-कम रस-सिद्धांत को जाने या अनजाने, ध्यान मे नही रखा, महाभारत का काव्यत्व धर्म की व्यापक प्रज्ञा के मूर्त्तीकरण मे केन्द्रित है, रामायण की कथा व्यष्टि के सामजस्यपूर्ण आचरण मे विघ्न उपस्थित करने वाले तत्त्वो के ऊपर आक्रोश और गहरी सवेदना के चारो ओर बुनी गयी है, कालिदास का काव्य-दर्शन (पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोपि जन्तु) "सुखी प्राणी भी रम्य वस्तुओ को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर पर्युत्सुक-सा हो जाता है" इसी भावना अर्थात् विछुडे हुए चिदश से मिलने की आकुलता से उद्भासिन है और अश्वघोष शील के सौन्दर्य को उत्कर्प देने मे तल्लीन है, कोई भी रस-परिपाक के चक्कर मे नही पडा। रस-परिपाक वाले ज़रूर चक्कर मे पडे, पर वे भी रस-दृष्टि से 'महाभारत', 'रामायण', 'कुमारसम्भव' और 'बुद्धचरित' की समीक्षा पूरी-तौर से न कर मके। रस-सिद्धात की उपयोगिता या अपरिहार्यता सस्कृत नाटक को लौकिक धरातल पर उतारते समय अनुभव की गयी। भारतीय नाट्यशास्त्र अवस्था की अनुकृति पर तो वल देता था, पर जीवन की अनुकृति को उपेक्षणीय मानता था, नाट्य के द्वारा समर्पित जगत्, दृश्य जगत् का न तो प्रतिविम्व था, न उसकी पैमाइश, वह

विज्ञानमय जगत् था, वस्तु उसमें विज्ञान (ग्राज की पश्चिमी परिभाषा मे "सब्जेक्ट') में रूपान्तरित थी। इस विज्ञान की प्रतीति कुछ निश्चित मुद्राग्रो, चारियो, अंगाहारो ग्रादि मे होती थी और यह प्रतीत अनुभव के एक ऐसे धरातल पर होती थी, जिसमे विषय तो रहता था, पर निर्वैयक्तिक होकर, ताकि लगाव विषय से न होकर विषय के निर्वैयक्तिक अनुभव से हो। रसवाद का प्रवर्त्तन इसी समानान्तर अनुभव की विशिष्टता को समझने के लिये किया गया। श्रव्य काव्य के ऊपर इसे लागू करते समय इसीलिए कुछ नयी स्थापनाएँ और जोड़नी पडी—

(१) काव्य मे होनेवाले शब्दार्थ व्यापार मे और साधारण भाषा मे होने वाले व्यापार मे अन्तर है। साधारण भाषा के द्वारा प्रस्तुत अर्थ प्रत्यक्ष का विषय नही होता, पर कवियो की भाषा के द्वारा समर्पित अर्थ प्रतिभा के प्रताप से साक्षात् अनुभूत होता है, क्योंकि वह साधारण भाषा के अर्थ की तरह सामान्य न रहकर विशिष्ट बनकर ही सामने आता हे। काव्य की भाषा का यह वैशिष्ट्य वस्तुत. और कुछ नही कारयित्री प्रतिभा की गहरी पीड़ा है। अभिनवगुप्तपाद ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि कवि को रसास्वाद भावक बनकर मिलता है, कवि के रूप मे, रचनाकार के रूप मे, वह एक गहरी पीडा से गुजरता रहता है, यह पीडा है, अनुभव के निजत्व के परिहार की और शब्दातीत अर्थ को शब्द देने की। जैसे अभिनेता के अभिनय के द्वारा जो अवस्था व्यक्त होती है, वह अनुभूत होते हुए भी अनुभूयमान के रूप मे ही प्रतीत होने पर सार्थकता रखती है, वैसे ही काव्य के शब्दार्थ के द्वारा जो स्थिति सवेद्य होती है, वह अनुभूत होते हुए भी अनुभूयमान के रूप मे ही गही जाने पर रस बनती है।

(२) काव्य का जगत् वस्तुजगत् का न तो विरोध है, न अभाव ही, यह वस्तु जगत् का वाक्पूत, वाक्संस्कृत और विज्ञान-प्रवाहित रूपान्तर है। आनन्द कुमार स्वामी ने इसीलिए रस का अंग्रेजी मे अनुवाद "आयडियल ब्यूटी" (अर्थात् विज्ञानमय सौन्दर्य) दिया है। काव्य-दृष्टि वस्तुत: परोक्ष दृष्टि है, शतपथ ब्राह्मण की भाषा मे देवदृष्टि है, क्योंकि "परोक्षप्रिया वै देवा प्रत्यक्ष

द्विष."। परोक्ष दृष्टि को चाहे आप अन्तर्दृष्टि कहें, चाहे अन्त.प्रज्ञा कह ले, चाहे ईश्वरीय प्रेरणा कह ले, चाहे इलहाम कह ले, वह अभिव्यक्ति के संकट और अनुभव को गहरी विशालता से ही आती है, वह 'काली रात' के गह्वर से ही आती है।

(३) काव्य का आनन्द भक्ति के आनन्द से प्रतीति मे सदृश होते हुए भी इसलिए विलग है कि भक्ति तो "परमेश्वर-विषय के लिये आवेश की बेवसी" है। पर काव्यानन्द या दूसरे शब्दों मे रस पूर्णत. स्वातन्त्र्य, सामरस्य और स्वप्रकाशता की परिस्थिति है। वह अनुभव के क्षण मे उद्भासित है, उसके बाहर प्रसुप्त। वह विषय से मोक्ष नही दिलाता, विषय की स्थूल वास्तविकता से मोक्ष दिलाता है, मोक्ष दिलाकर वह सहृदय के चित्त का सस्कार करता है। काव्य का फल परानिर्वृति इसी माने मे है कि सकीर्णता, क्षुद्रता, पशुता और दम्भ से छुटकारा मिलता है ऐसी अनुभव की खराद पर चढी भाषा के सस्कार से।

रस-सिद्धान्त को एक समग्र शास्त्रीय रूप मे अभिनव गुप्तपाद ने पहली बार स्थापित किया, पर उन्होंने काव्य के मूल्याकन को रस तक ही सीमित नहीं रखा, वे शिवतत्त्व के आराधक थे, अपने कृतित्व मे या अपनी रुचि मे (यह उनके दिये गये उद्धरणो पर ही आधृत है) शिव को या शक्ति के सौन्दर्य-प्रवाह को ही सर्वाधिक महत्त्व देते है। रसवाद तो उनके दर्शन की उपपत्ति है।

आचार्य नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' नामक महापोथी लिखकर हमारे जैसे अनपढो को पढने के लिये प्रेरित किया, हम इसके लिये उनके आभारी है। यह जरूर है कि इस पोथी मे दार्शनिक पीठिका को समझने का ठीक यत्न नही किया गया और न पूर्ववर्ती प्रयत्नो से लाभ ही उठाया गया है। कुछ नयी मौलिक स्थापनाएँ की गयी है, उनसे उनका ग्रन्थ दुर्बोध हो गया है। उनकी पोथी का उद्देश्य तो हमारी समझ आया, पर उनकी पोथी नही, क्योकि जहाँ तक उसमे उदाहरणो का प्रश्न है, वे सब तो कुछ-न-कुछ समझे हुए है, पर उनकी व्याख्या के कुछ सूत्र बिल्कुल ही पल्ले नही पडते। उदाहरण के लिये "रस-सिद्धान्त मानववाद के दृढ आधार पर प्रतिष्ठित है। यह मानव को उसकी देह

और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ इसका स्वीकार करता है, इसलिये मानव के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न सम्बन्ध है।" हमें नहीं पता कि किसी रसशास्त्री ने 'मानव' नामक चिड़िया का नाम रस के प्रसंग मे लिया है। ब्रह्म, चैतन्य, आत्मा, स्वसंवेदन आदि शब्द आये हैं और 'मानव' जाति आयी भी है तो सहृदय, कवि या विशिष्ट आलम्बन के रूप में। मानवीय दुर्बलता के स्वीकार-अस्वीकार या उसके भूत-भविष्य की चिन्ता का प्रश्न ही नहीं उठता रस के विचार मे। रस विज्ञान-घन अनुभूति के धरातल पर संवेद्य है। वह 'सत्त्वोद्रेक' से भी ऊपर है (अगर अभिनव गुप्तपाद को प्रमाण माना जाय)। वहाँ रस की मानवीयता का प्रश्न ही कहाँ है ? दूसरी उलट बाँसी (या सन्ध्याभाषा) मुझे करुण रस की व्याख्या मे पढने को मिली, "उत्तर रामचरित मे राम की उदात्त कर्त्तव्य-भावना उनके व्यक्तिगत दुःख को विशेष गरिमा से मण्डित कर देती है। इस प्रकार के प्रसग जीवन के गम्भीर पक्ष को सामने रखते है। इनसे सहृदय गहनतर जीवन-तथ्यो के साक्षात्कार का अवसर प्राप्त करते है और सत्य का साक्षात्कार निश्चय ही एक उपलब्धि है, जिससे आत्मा का उत्कर्ष होता है। इस प्रकार करुण प्रसंगो से जीवनरस की सिद्धि होती है, इसी तरह का एक और व्याख्यान पढने को मिला—'यह सिद्ध करने के लिये विशेष तर्क की आवश्यकता नही कि रसवाद का आदर्शवाद के साथ पूर्ण सौहार्द है। मूल रूप मे दोनो का ही आधार आत्मवाद है (माध्यमिक और विज्ञानवादी भी आत्मवादी है न !)' तथा उसी साँस मे यह भी—'आखिर यथार्थवादी कला मे भी तो अपना आकर्षण रहता है। वह भी तो सहृदय के चित्त का अनुरजन करती है। इस आकर्षण का रहस्य क्या है ? अमिश्र जीवन-रस ही न !"

हमे ऐसा लगा कि जीवन-रस की बात करना और मानववाद की दुहाई देना रस-सिद्धान्त की पराजय है। भारतीय जीवन-दृष्टि से अलग रस को रखकर देखना ही बहुत बडी भूल है। वाणी के महत्त्व, देववाद, अमृतत्व, सूक्ष्म से स्थूल की ओर झुकाव, बाह्यजगत् का अन्तर्गत् के साथ तादात्म्य, इस तादात्म्य को जोड़नेवाली प्रतिभा का उन्मेष, अतीन्द्रिय मन से परे

बुद्धि मे सत्य को स्थापित करने का चरम लक्ष्य, काव्य के अनुभव और काव्य के शब्दार्थ का वैशिष्ट्य जैसी मान्यताओ के धरातल पर ही रसवाद अधिष्ठित है। इन मान्यताओ को स्वीकार न करने पर काव्य के मानदण्ड बदल जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के रूपक मे नव रसो को 'जलचर नाना' ही कहा है, जल तो 'रघुपति की महिमा' है, जिसमे चौपाई 'पुरइन' की तरह पसरी हुई, ज्ञान और विराग हसो के जोडे की तरह विहर रहे है। उन्होने स्पष्ट कहा है 'इहाँ न विषय कथा-रस नाना'। वे 'आखर अरथ मजु मनमोदक' को राम के प्रेम मे 'पागने' मे ही कविकर्म की सार्थकता पाते है। इसका कारण है, तुलसीदास देववाद और अमृतत्व की कल्पना से ऊपर उठे, उन्होने दूसरो के दु ख से द्रवित होनेवाले सन्त की अवतारणा की और परब्रह्म को ऐसे सन्त का वशीभूत बनाया, उन्होने विशिष्ट भाषा के स्थान पर 'ग्राम्य गिरा' को, 'भदेस भनिति' को और सामान्य अनुभव को मर्यादा दी। रस-सिद्धान्त इन मान्यताओ के आगे अपने-आप अपर्याप्त हो गया। उसका स्थान गौण हो गया। कोई चाहे तो उसे तुलसीदास के मानस मे पा ले, और मीनप्रेमी हो तो अपनी आलोचना की कढाई मे तल भी ले, हाँ, यह याद रखे कि वह ग्राह भी हो सकता है।

पर यह खोज तुलसी के मूल्यो की खोज नही होगी। उसी तरह बीसवी सदी का कवि निर्वैयक्तीकरण या तादात्म्य या अमरत्व के प्रतिमान न स्वीकार करके दूसरे प्रतिमान स्वीकार करता है, तो उसके काव्य का मूल्याकन रस-सिद्धान्त से करना न्याय न होगा। दूसरी बात यह भी है कि केवल रस-दृष्टि मे ईसा को १०वी, ११वी सदी मे भी सस्कृत काव्य का मूल्यांकन नही हुआ, ध्वनि, गुण, वर्ण्यविषय और शब्दार्थ-योजना की दृष्टि से ही विस्तार मे विवेचन हुआ है। रस-दृष्टि तब भी एकमात्र दृष्टि नही थी, कुछ विशेष प्रकार के काव्य को समझने की कई दृष्टियो मे से एक ऐसी दृष्टि थी, जो उस काव्य को दूसरे काव्य की अपेक्षा अधिक चमका कर दिखला देती थी।

यह समझना कि रस-दृष्टि ही पारमार्थिक भारतीय दृष्टि है या यह कि यदि काव्य को वस्तुजगत् के धरातल पर लाकर भी स्थापित किया जा सकता है,

तो रस को भी वहाँ प्रतिष्ठित किया जा सकता है, वस्तुत· भारतीय चिन्तन और कविकर्म के स्वातन्त्र्य के महत्त्व को कम करना है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे इतना वैमत्य तथा रस-निष्पत्ति को अनेक प्रकार से समझाने की निरन्तर कोशिश क्या इस बात के पर्याप्त प्रमाण नही हैं कि रस का मानदण्ड व्यावहारिक स्तर पर कभी स्पष्ट नही हुआ। रस के उदाहरण भी इसीलिए एक-से-एक विचित्र मिलते है, मम्मट ने भयानक का उदाहरण दिया है—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने वद्धदृष्टि:
पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढै. श्रमविवृतमुखभ्र शिभि. कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति वहुतर स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

मृग वाण के भय से भागा जा रहा है, पर पीछे की ओर देखते रहने के लिये गर्दन मुडी हुई है, शरीर का पिछला हिस्सा लगता है आगे के हिस्से मे समा गया है, हाँफते-हाँफते अधखाये घास के टुकड़े विखरे जा रहे है। अब यह वर्णन केवल 'भय' का नाम होने से चाहे 'भय' का सचार करे या 'भय' स्थायी-भाव को रस तक पहुँचाये, नही तो इससे केवल कुतूहल को उकसाव मिलता है। हाँ, यदि मृग के भय से तादात्म्य स्थापित करना होता, तो अन्तिम पक्ति 'पश्य', देखो, देखो वह भागा जा रहा है, न होती। इसे भयानक रस का उदाहरण देने न देने से काव्यत्व का तो कुछ वनता-बिगडता नही, पर मूल्याकन पर प्रभाव जरूर पडता है। गलत मूल्यांकन से गलत सस्कार बनते है और गलत संस्कारो से काव्य का मूल प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है।

आचार्य नगेन्द्र ने जहाँ रस-सिद्धान्त की शक्ति और सामर्थ्य की परीक्षा की है, वहाँ यही भूल गये है कि रस-सिद्धान्त की सीमा भी है। रस पर आक्षेप अल्पवोध पर भी आश्रित हो सकते हैं, पर वोध भी तो कारण हो सकता है। वोध की समाप्ति तो अभी हुई नही है और नगेन्द्र जी तो हम लोगो की तरह निराशावादी भी नही, अत वे रसको असीम रखने के वजाय सत्य की उपलब्धि को ही (जिसकी दुहाई उन्हें देनी पडती है) तथा मानव सवेदना को ही क्यो नही असीम वने रहने देते हैं! रस आनन्दरूप हो या सु ख-दुख-

रूप हो या परिमार्जित दु खरूप हो, काव्य-अनुभव का एकमात्र पर्याय क्यो बना रहे ? काव्य क्यो जकडा रहे, ऐसी रूढि मे जो जीवन-दृष्टि पर ही पर्दा डाल देना चाहती है और हमारी रचना की सम्भावना को ही इस आतक से समाप्त कर देना चाहती है कि 'वास्तव मे नयी कविता का कल्याण इसी मे है कि वह इन रसमय बन्धनो को स्वीकार कर ले (ठीक कहना यह होगा कि 'बन्धनमय रस को') और इसमे उसे इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। चालीस वर्ष पूर्व छायावाद ने भी रस का विरोध किया था, पर आज रस ही उसका प्राण सर्वस्व है (प्रश्न है कि प्राण कितना है), उसके प्राय. दो दशक बाद प्रगतिवाद ने उस पर प्रहार किया था, किन्तु आज उसका जितना भी अश अवशिष्ट है (सूचना के लिये धन्यवाद) वह रस के आधार पर ही जीवित है।'

आज तक ऐसी चेतावनी किसी लक्षण ग्रन्थ के रचयिता ने नही दी थी। हाँ, रचनाकार ने दी थी 'उत्पत्स्यतेस्ति मम कोपि समानधर्मा'। पहली बार यह चेतावनी ऐसे कोने से आयी, जिसको कवि निरीह समझते थे। आलोचना रचना पर हावी होती है तो नैषधीय चरित की सृष्टि होने लगती है, कुमार सम्भव उपेक्षित होने लगता है। रस-सिद्धान्त कोई पारमर्थिक सिद्धान्त नही है, यह दृष्टि-सापेक्ष है। काव्य उस दृष्टि से बँधा नही रह सकता।

———

# साहित्य में बाह्य प्रभाव

साहित्य मंस्कृति की सबसे आन्तरिक और सारभूत अभिव्यजना है। इसलिये किसी भी समर्थ साहित्य मे जब कोई विदेशी प्रभाव आता है तो वह सस्कृति मे आत्मसात् होकर ही आता है। प्राय. बाहरी प्रभाव सतह को छू कर रह जाता है। वह सास्कृतिक मूल्य-सघटना के भीतर कही बैठ नही पाता और बहुत अल्प काल मे ही अपने आप या उसी प्रकार के किसी दूसरे क्षणिक प्रभाव के आवेश मे उड जाता है। पर, चूंकि ऐसे सतही प्रभाव बहुत आसानी से दिखने लगते हैं, वे ही अधिकतर बाह्य प्रभाव के रूप मे विवेचना के विषय बन जाते हैं। वस्तुतः ऐसे बाह्य प्रभावो को नकली या क्षणिक बाह्यप्रभाव मानना चाहिए। ऐसे प्रभाव फैशन के एक दौर की तरह आते हैं और चले जाते हैं, ऊपर से देखने मे बडे व्यापक लगते हैं, पर वे काल के गहरे आयाम मे स्थापित करने पर नगण्य हो जाते है। उदाहरण के लिये आधुनिक हिन्दी साहित्य मे उपेक्षित के उद्धार का एक दौर आया। प्राचीन साहित्य की उपेक्षित नायिकाओ को अतिरजित सहानुभूति दी जाने लगी, साहित्य मे उपेक्षित पौधो और फूल पत्तियो को बिना किसी तरतीब के सजाने का फैशन चला, किसान और मजदूर के श्रम पर आक्रोश का अतिरेक उडेला जाने लगा। यह सब हुआ, दो प्रकार के ऐसे विदेशी प्रभावो के एक साथ पडने पर, जो स्वय समकालिक नही थे, एक तो उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ के रोमाटिक आन्दोलन का प्रभाव था और दूसरा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ के साम्यवादी आन्दोलन का प्रभाव। जब तक ये दोनो प्रभाव हमारी अपनी मूल्यस्तरो की रचना मे समावेश न पा सके, तब तक ये प्रभाव बिल्कुल सतही बने रहे। इनसे

छूँछी सहानुभूति तो जगी, पर किसी मूल्य की प्रतिष्ठा नही हुई, यही कारण है कि इस प्रकार के साहित्य की रचना उसके प्रणेताओ के ही जीवन-काल मे उन्ही के द्वारा विसर्जित कर दी गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद योरप में विशेषत युद्ध की तीव्रता झेलने वाले फ्रास, इटली और जर्मनी जैसे देशो मे मानवीय विवशता का एक तीखा अनुभव जगा और उसके कारण अस्तित्व की सार्थकता के लिये नये आयाम ढूँढे जाने लगे, उसका प्रभाव स्वाधीनतोत्तर युग के भारतीय बुद्धिजीवियो पर एक खामखाह की परेशानी और एक नकली उलझन के रूप मे पडा। पश्चिमी जीवन के जटिल सघर्ष और पश्चिमी सभ्यता के नये-नये, विषम से विषमतर मोहभग के आघात से गुजरे विना सकट के नारे लगने लगे। परिणाम यह हुआ कि छायावादी अन्तर्वेदना से भी यह पीडा अधिक रगीन हो गयी। पर जिन लोगो ने पश्चिम के अनुभव या उसकी उपलब्धि को अपने निजी विश्व-बोध मे अन्तर्भूत करके फिर से जिया या पाया, वे सहानुभूति या सकट की सार्थक गहराई को पहचान सके। विवेचनात्मक स्तर पर यह विवेक अपनी सस्कृति को ठीक-ठीक पहचानने से आता है और रचनात्मक स्तर पर स्वत्व की जागरूकता, ईमानदारी और स्वधर्म की निष्ठा से आता है।

यही प्रश्न उठ खडा होता है सस्कृतियो के सघात मे मूल्य-बोध के परिवर्तन का। सस्कृतियो का सघात दो प्रकार का होता है, दो वरावर वलवाली सस्कृतियो का सघात और एक सवल और दूसरी निर्बल सस्कृति का सघात। वरावर वलवाली सस्कृतियाँ जव एक दूसरे से टकराती है, तव प्राय दोनो के वैशिष्ट्य आत्मरक्षा के प्रयत्न मे और अधिक उभरते हैं। अग्रेजी दासता के वावजूद उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध मे भारतीय पुनर्जागरण का इतिहास इस वात का जीवित प्रमाण है। सवल और सस्कृति जव निर्वल सस्कृति से टकराती है तो दो ही प्रक्रियाएँ सभव है, या तो निर्वल सस्कृति पूर्णतया विलीन हो जाती है या वह अपने टिकाऊ मूल्यो को सवल सस्कृति के मूल्यो के अधीन करके एक नया मूल्यस्तर वना ले। दोनो ही दशाओ मे काल का महत्त्व है, क्योकि विना लम्वी प्रक्रिया से गुजरे मूल्य-स्तर का निश्चित रूप नही वन पाता, प्रक्रिया के दौरान एक ऐसी अनिर्णीत स्थिति वनी रहती है, जिसमे

कौन सा मूल्य अधिक महत्त्व रखता है कौन कम, यह कहा नही जा सकता। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सबलता और निर्वलता राजनैतिक या सैनिक शक्ति के आधार पर निर्धारित नही की जा सकती, आर्थिक और सास्कृतिक शक्ति को तो सवलता या निर्वलता के निर्धारण मे आधार मानना ही पड़ता है, प्रतिरोध की मात्रा को भी एक मुख्य निर्धारक स्वीकार करना पड़ता है, यही कारण है कि वहुत सी विजेता सस्कृतियाँ कालान्तर मे विजित सस्कृतियो द्वारा विजित हो गयी है। इस सन्दर्भ मे जब हम भारतीय साहित्य पर पड़े विदेशी प्रभावो की समीक्षा करते हैं, तब हम पाते है कि स्वाधीनता के पूर्व हम मे प्रतिरोधक शक्ति अधिक होने के कारण भारतीयता की प्रतिमा स्थापित करने का उत्साह अधिक था, पर स्वाधीनता के वाद इस प्रतिरोधक शक्ति के कम हो जाने के कारण और आर्थिक तथा वैज्ञानिक (विशेष करके प्रायोगिक) दृष्टि से सम्पन्न संस्कृतियो के सामने अपनी हीनता का वोध वड़ा दिखने लगा हैं। इस परिस्थिति मे मूल्यस्तर का नया निर्धारण अवश्यम्भावी है। यह ज़रूरी है कि कोई स्थिरता आये, इसके पहले तन्त्र-कौशल (टेकनिकल स्किल) और औद्यौगिक विकास की दृष्टि से सम्पन्न सस्कृतियो के अवगुण हम पहले ग्रहण करे और एक अरसे तक उनकी रचनात्मक उपलब्धि को अन्तिम उपलब्धि मानकर उसमे अपनी ओर से कुछ जोड़ न सके। परिणामत. हम अपनी शक्ति मे विश्वास भी खो वैठे, यह भी सम्भव है कि पराजय को या हीन-भावना को छिपाने के लिये हम आत्मप्रचार और स्वत्व-स्थापन के छिछले और भोड़े स्तर पर भी उतर जाये, यह भी सम्भव है कि हम स्वाधीनता के लिये नये सिरे से सघर्ष करने का निश्चय करे और समग्र विश्व के सन्दर्भ मे अपने को स्थापित करके अपनी सार्थकता का रास्ता वनाये। पर जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यह लम्वी प्रक्रिया है। सम्प्रति हम इतना ही कह सकते हैं कि हम वाहरी प्रभाव की एक ऐसी ही स्पष्ट और अँधेरी प्रक्रिया से गुज़र रहे हैं।

हम समझते है कि वाह्य प्रभाव तभी साहित्य में अन्त सात् होता है जव कि वह प्रतिक्रिया या अनुक्रिया से मुक्त होकर निरपेक्ष और सहज क्रिया का

अंग बन जाता है और यह सम्भव भी तभी होता है, जब बाहर का न तो भय हो न भीतर से कोई उद्वेग। अमरीकी साहित्य मे भीतर मे उद्वेगजन्य परिस्थितियों के कारण आदिम, प्राच्य और अपरिचित रास्तो पर चल पडने की आतुरता दिखायी पड रही है। भारतीय साहित्य मे भी एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है, जहाँ बाहरी प्रभाव का भय घेरे हुए है, इस भय के कारण वह हिस्सा खिड़कियो को बन्द करके कमरो मे भीतर घुसा हुआ है, ज़रा सा भी किसी कोने से कोई हवा अगर आ गयी या कोई किरण कही दिख गयी तो आतंक छा जाता है, जाने क्या हो जाये, उस हिस्से मे अपने से ही आकलित करना दुःस्वप्न सा लगता है, क्योंकि हर कोठरी दूसरी कोठरी से अपने को विलग देखती है और हर कोठरी अपने आप को भारतीयता की एकमात्र सुरक्षित निधि मानती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अपनी मूरत भी अजनबी दिखने लगी है। इन दो प्रकार की स्थितियो से विलग है, प्रभावग्रहण की एक मुक्त और स्वस्थ स्थिति जहाँ रचनाकर निर्भय और निरुद्विग्न है, वह हर प्रभाव को ग्रहण करता है पर उसमे बहता नही, साथ ही प्रभावो के आसरे वह जीता नहीं, वह इसमे विश्वास करता है कि—

जो हमे सरसाता है,
वह छिपा हुआ पानी है,
हमारी इस जानी-पहचानी,
माटी के नीचे का।
रीतता नही,
बीतता नहीं।

ऐसे व्यक्ति की रचना में प्रभाव का अन्तर्भाव हो जाता है। और इस अन्तर्भूत प्रभाव का विश्लेषण ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और शुद्ध वैज्ञानिक घटकों या कारणों के आधार पर गहराई मे गये बिना नही किया जा सकता है। बाहरी अभिव्यक्ति कभी-कभी भ्रम ज़रूर पैदा करती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि गान्धार-कला में वेश-विन्यास ग्रीक प्रभाव को बढा-चढा कर दिखाने लगता है। पर जब हम उस वेश-विन्यास के भीतरी छन्द पर ध्यान

देते हैं या उस कला की नैरन्तर्य-दृष्टि पर ध्यान देते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गान्धार कला शुद्ध रूप से भारतीय कला है। अभिव्यक्ति मे विशेष रूप से शब्द-चयन मे नये आघात-प्रतिघातो के कारण नये शब्द भी आते है, विदेशी भाषाओ के नये शब्द आते है और अपनी भाषा मे भी दूसरी भाषा के वज़न पर नये शब्द बनते है, पुराने शब्द नये अर्थ मे स्थापित किये जाते है और यह परिवर्तन सलक्ष्य और असलक्ष्य दोनो प्रकार से होता रहता है। जब तक कि ये परिवर्तन सहज प्रवाह के रूप मे होते रहते है और जब तक भाषा की प्रतिष्ठा और भाषा की स्वतन्त्र सत्ता इनसे अप्रभावित रहती है, तब तक इन्हे बाहर से आरोपित नही कहा जा सकता। साहित्य और भाषा मे सामान्य अर्थ और शब्द का सम्बन्ध नही है इसीलिये साहित्य की भाषा सहज होते हुए भी विशिष्ट होती है, उसमे केवल सकेतित या प्रचलित अर्थ ही नही होता, असकेतित और भविष्यत् अर्थ भी निहित रहता है। साहित्य की भाषा इसीलिये कुछ अधिक समृद्ध होती है। उसमे बाहरी प्रभाव यदि स्वस्थ रूप से आते है तो सम्भावना का विस्तार करने के लिये ही। पर जब नये अर्थ का आग्रह प्रेषणीयता के सूत्र को ही तोड देता है, तब बाहरी प्रभाव आतङ्क के रूप मे उपस्थित हो जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना के क्षेत्र मे इस प्रकार का आतङ्क बहुत व्याप्त है। कुशल है कि रचनात्मक साहित्य मे यह आतङ्क के रूप मे न रह कर स्वाँग के रूप मे ही अधिकतर सीमित है। भाषा से कुछ गहरी है, शैली क्योकि भाषा समुदाय की होती है, शैली व्यक्ति की। शैली कोई भी विदेशी नही होती, जब तक कि उस शैली को अपनाने वाला व्यक्ति उस शैली के साथ समरस बना रहता है। यदि व्यक्ति शैली को अपनाता है और उसका व्यक्तित्व उसे नही स्वीकार करता तो वह शैली कितनी भी देशी क्यो न हो, आरोपित और बाह्य होगी। पश्चिमी शिक्षा के सस्कार के कारण हमारे व्यक्तित्व मे अलग-अलग प्रक्षेप पडे है, और उन्ही के अनुकूल हमारी शैलियाँ भी बनी हैं, यदि वे हमसे सामजस्य रखती है तो हम विदेशी चाहे हो, हमारी शैली विदेशी नही कही जा सकती।

बाह्य प्रभाव का निर्धारण करते समय अन्त मे बात रह जाती है आन्तरिक

प्रभाव की इयत्ता के निर्धारण की। आन्तरिक प्रभाव का आकलन जब तक उसके व्यापक परिवेश में नहीं किया जाता, तब तक यह खतरा रहता है कि हम बाहरी संस्कृति के सम्पर्क मे आने के कारण यदि अपने किसी विस्मृत तथा अविस्मृत मूल्यबोध को फिर से जगाने लगते है तो उसे बाह्य-प्रभाव के रूप में कुछ लोग देखने लगते हैं। उदाहरण के लिये बौद्धिकता के लिये जो अभिनिवेश आधुनिक साहित्य मे दिख रहा है, उसका मुख्य स्रोत प्राचीन भारतीय बुद्धि-वाद है, ऐसा बुद्धिवाद जो बुद्धि को मानसिक व्यापार से परे मानता है, पर कुछ मूढाग्रही लोग इसे बाहरी प्रभाव कहकर उपेक्षित कर देते हैं। आन्तरिक शक्ति की समग्रता का बोध तभी सम्भव है, जब किसी संकीर्ण ऐतिहासिक या जातीय दायित्व से अपने को मुक्त करके अपना आकलन किया जाय। बिना यह किये बाह्य प्रभाव की बात करना बेमानी हो जाता है।



# रचना और उसका परिवेश : आधुनिक सन्दर्भ

रचना और रचनाकार के परिवेश मे एक मौलिक अन्तर है, वह यह कि रचनाकार का बहुत सारा परिवेश रचना की दृष्टि से निरर्थक है, जब कि रचना का आन्तरिक या बाहरी परिवेश रचनाकार को भी घेरे हुए है। रचनाकार जिस संसार और जिन अनुभवों के बीच से गुजरता है, वे रचना के लिये उसी अश तक परोक्ष रूप से सार्थक है, जिस अश तक वे- रचना-प्रक्रिया की विषय-वस्तु, रचनाकार की गहरी सम्पृक्ति, चिन्ता, सकल्पना और रचनात्मक मन्थना से सम्बद्ध हैं। इसलिये रचनाकार का हर एक परिवेश या हर एक परिवेश की हर एक प्रतिक्रिया, लाचारी या समृद्धि रचना को उपकृत नही करती, उपकृत सिर्फ वह अश करती है, जो रचनाकार को उस परिवेश से मुक्त कराने के लिये यत्नशील है, तीव्र साधक या तीव्र बाधक है और जो रचनाकार को रचना के माध्यम से जन्म लेने के लिये विवश करता है।

जहाँ तक रचना के परिवेश का सवाल है, यह मानकर चलना चाहिए कि साहित्य की रचना जिस माध्यम से होती है, वह माध्यम अर्थात् भाषा पूर्व निश्चित सकेतो पर आश्रित है, नये सकेत भी निश्चित सकेतो के सरणि पर ही निर्धारित होते है, इससे दूर खिचकर अप्रेषणीय हो जाते हैं। रचनाकार इस जड और स्थिर माध्यम से, इस गृहीत-आकार उपादान से अबोधपूर्ण अर्थ की खोज करके विषम सकट से ग्रस्त है। वह इसको छोड नही सकता, पर इसकी नाकाफ़ियत से भी त्राण नही पा सकता, उस दशा मे वह जितना ही इस अपर्याप्तता का तीव्रतर अनुभव करता है, जितना ही खीझ-खीझकर बार-बार घडे-सकोरे भिगोता है, कड़ी पडी मिट्टी को रूँदता है, नये आकार गढता है,

उतना ही वह भाषा की सामयिकता से ऊपर उठता है और युगबद्ध भाषा से युगातीत भाषा की प्रबुद्धता उसमे जाग्रत् होती है, वह भाषा मे आगे आने वाले परिवर्तनो के सकेत, नये बनने वाले सकेतो के संकेत पा जाता है और यह पूरी प्रक्रिया एक ओर उसे समसामयिकता मे बोरती है, दूसरी ओर सामयिकता से, रूढि से तारती भी है। इस दृष्टि से भाषा का प्रत्येक स्तर जो कहीं-न-कहीं जिया जा रहा है या वह स्तर जो पुराना होने पर भी जिये जाने की योग्यता, नये दायित्वो को सँभालने की योग्यता, नव-अधिगत समग्रता को समेटने की योग्यता रखता है, अन्वेषण का, प्रयोग का, स्वीकार का, प्रत्याख्यान का, विस्तार का, सकोच का विषय बन जाता है। रचना वही समृद्ध होती है, जो जीवनगर्भ भाषा के द्वारा सम्प्रेषित होती है। यह ज़रूर है कि भाषा भी रचना की अग नही, आन्तरिकता नहीं, महज़ सवारी है। इसलिये भाषा के साथ खिलवाड ज़रूरत से ज्यादा होने पर तमाशा खड़ा हो जाये तो हो जाये, रचना पीछे छूट जाती है या कहीं बग़ल झाँकने लगती है। भाषागत परिवेश प्रमुख बल है, 'कविहि एक आखर बल साँचा', यहीं पर वह परिवेश बड़ा ही ख़तरनाक है। उसकी ओर ज्यादा उन्मुख होना और भी ख़तरनाक; आँखे अन्धी हो जाती हैं, उसकी ओर से विमुख होना भी ख़तरनाक, क्योकि तब कान बहरे हो जाते हैं और सम्प्रेषण एक-पक्षीय होने के कारण बडा ही ज़िद्दी, जटिल और उबाऊ हो जाता है। यह परिवेश वही झेल सकता है, जो इसमे छेद कर सके या जो इसके लचीले अश को, सवेदनशील अवयव को छूकर इसे गुदगुदा सके, इसको उन्मुक्त कर सके, इसको सहज कर सके। आज के साहित्य के सन्दर्भ मे इस परिवेश के ख़तरे और भयावह हैं। अंग्रेजियत, अतिरिक्त आचलिकता, अतिरिक्त शहरीपन, अतिरिक्त सादगी, अतिरिक्त सर्वग्राह्यता का आग्रह, अतिरिक्त अटपटापन और अतिरिक्त बोझीलापन— इनसे उबर पाना आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिये एक घोर संकट है, और आधुनिकता के लिये एक बडी चुनौती भी।

रचना का दूसरा महत्त्वपूर्ण बाहरी परिवेश है रचना, जो अब तक हो चुकी है, और जो अचेत या अवचेत या सचेत किसी-न-किसी रूप मे रचना-

कार के मन मे छायी हुई है, यह रचनात्मक परिवेश काव्य-रचना मे कुछ और विशिष्ट महत्त्व रखता है। वहाँ भीतर से अव्यता की खोज छन्द की समजस लयो की डगर पर ही होती है। दूसरे प्रकार की साहित्य-रचना मे कथ्य का, कथ्य-भगिमा का, और सयोजनतन्त्र का ही महत्त्व है। आधुनिकता के सन्दर्भ मे रचनात्मक बाहरी परिवेश का महत्त्व दो कारणो से है, एक तो अधिकाश रचनाकार जिस शिक्षा-प्रणाली से निकले है या निकल रहे है, वे द्विधा-रूप मे समस्त मानवीय उपलब्धियो को देखने के अभ्यस्त है—पश्चिमी-दर्शन, भारतीय-दर्शन; पश्चिमी-साहित्य-शास्त्र, भारतीय-साहित्य-शास्त्र; पश्चिमी-अर्थनीति, भारतीय-अर्थनीति, पश्चिमी-नीति-शास्त्र, भारतीय-नीति-शास्त्र। अब इस विभाजन को एक सीधी रेखा काटने लगी है, वह है विज्ञान, विज्ञान अबटनीय है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो मानवीय-उपलब्धि की एकता को ग्रहण नही कर सकता, वह एक-न-एक तरफ झुक जाता है, जो ग्रहण कर पाता है, वह इतर हो जाता है, वह भारतीय नही रहता, पश्चिमी नही रहता। इस प्रकार इस परिवेश का महत्त्व इसमे सन्निहित 'जोखिम' के ही कारण है। दूसरा कारण है, छापाखाना। इसके कारण साक्षात्-प्रेषण का अनुपात परोक्ष-प्रेषण के अनुपात से आज कही कम हो गया है इसलिये स्व-भावत- एक अधूरा ग्रहण हो रहा हे, पर हजारो तरफ से एक साथ कई प्रकार के ग्रहण हो रहे है। पहले विवेक की शिक्षा होती थी, विवेक अपने-आप आसानी से सकल्पमात्र से हो भी जाता था। अब विवेक कठिन हो गया है। सिद्ध-रचना के सम्बन्ध मे इसलिये कि उसकी विवेचनाएँ इतने प्रकार की अब उपलब्ध हैं कि उजलतबाज रचनाकार को भटकने की काफी गुजाइश है और सामयिक साहित्य के सम्बन्ध मे, इसलिये कि वहाँ विवेचना नही है, है प्रस्थापना या ठीक कहे उत्थापना। विवेक के अभाव मे सस्कार ग्रहण करने का सङ्कल्प खण्डित हो जाता है, वह न तो जुड पाता है उन रचनाओ से, जिनसे प्रभाव ग्रहण करता है, और न जोड पाता है अपनी रचना को उन रचनाओ की सम्भावना से। नकारने की निर्ममता ही विवेक की प्रथम शर्त हे, पर बहुत से लोग नकारने के जोश मे दूध पीना ही भूल जाते है। ऐसा एकहरा विवेक भी

बहुत अच्छा नही।

रचना का तीसरा परिवेश है—और यह आजकी हिचकिचाती आधुनिताके सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण है—उसका समकालीन ग्रहण, साधारण और विशिष्ट पाठक-द्वारा। यह परिवेश रचना को सीधे समृद्ध या दरिद्र उतना नही करता जितना कि रचना को उत्साहित, अनुत्साहित या हतोत्साहित करता रहता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप मे रचना की आगे की सम्भावना को प्रभावित करता है। आज इस परिवेश को इसलिये भी विशेष रूप से सार्थकता मिल गयी है कि यह परिवेश अधिकतर एक अन्धी दीवार के रूप मे सामने खड़ा है और रचनाकार विवश है स्वयग्रहीता बनने के लिये, यह उसकी एक दयनीय स्थिति है, इस स्थिति के कारण रचना का आन्तरिक स्वर शिथिल हो रहा है। इस स्थिति का इलाज छोटे पाठक, छोटी गोष्ठियाँ, छोटी जगहो की छोटी पर्युत्सुकताएँ तो अपनी जगह पर है ही, इसका सही इलाज प्रबुद्ध प्रकाशक, सम्पादक और आलोचक के पास है।

अन्त मे बात आती है रचना के आन्तरिक परिवेश की, विशेषत. आधुनिक साहित्य के परिवेश की। यह तो अब तक अत्यन्त असन्दिग्ध रूप मे स्वीकार किया जा चुका है कि आधुनिकता आधुनिकीकरण नही है, वह इतिहास बोध यान्त्रिक जीवन की तेजी, तनाव का बोझ, मूल्यो का विघटन, मूल्यो का अन्वेषण, समकालीन समाज मे सम्पृक्तता, व्यक्तित्व का निर्वैयक्तिक अभिमान, यथार्थ से सलग्नता-जैसी चीजे नही, वह वस्तुत मूल्यरूप होने की, मानवतावादी होने की, यथार्थ मे नही, उसकी यातना से मुक्त होने की और विज्ञानवादी होने के प्रमाणरूप मे निर्विशेष अनुभव को भी अपनी तीव्र वैयक्तिकता से अर्थ देने की संस्कारिता है। यह सस्कारिता प्रक्रिया है, निष्पन्नता नही, निष्पन्नता से अतृप्ति है और आज का सघर्षमय जीवन या उस जीवन का दुर्वह बोझ रचना के आन्तरिक या दुर्निवार परिवेश मे नियत रूप मे सम्बद्ध नही, नियत रूप मे सम्बद्ध है, इस जीवन को अर्थ से प्रमाणित करने की सक्रिया इच्छा मे (अर्थ का प्रयोग 'वैल्यू' के अर्थ मे किया जा रहा है), यह अर्थ विनिमेय नही है, सापेक्ष नही, यह अर्थ निरपेक्ष है, यह ध्रुव नही, सचरणशील है, कूटस्थ नही

सन्तानवाही है। दूसरी बाते इस सिसृक्षा के फल या उपफल रूप में हो सकती है, निमित्त हो सकती है, उपादान कारण नही हो सकती। जो लोग समकालीन मूल्यगत संकट, ह्रास, वैषम्य या विश्वबन्धुता की अनिवार्यता की आड लेकर अपनी रचना को विलग करने का आग्रह करते है, वे वास्तविक अर्थ मे सर्जक नही है, वे बस नकलनवीस है या हद से हद रिर्पोटर है। वे दूसरो का सकट अपने ऊपर ओढ़ते है, अपनी पुकार नही सुनते। कितना भी व्यापक या सनातन मूल्य कोई क्यो न हो उसकी मूल्यवेत्ता उसके 'अँजुरी-भर पिये जाने' तक ही वास्तविक है।

इसलिये एक ओर जहाँ आज के रचनाकार के बाहर और भीतर का जगत् इतना प्रसरणशील है, इतना अछोर है, वही दूसरी ओर उसकी सम्पृक्तता उतनी ही केन्द्रित और नुकीली है। उसका आक्रोश इसलिये हजार चीजो के खिलाफ न होकर मनुष्य की कुछ असमर्थताओ के खिलाफ है। उसका रागात्मक सम्बन्ध विषयो से नही, वस्तुओ से है, (वस्तु जिस रूप मे गृहीत हो रही है) दूसरे शब्दो मे उसका चित्त दृश्य से अधिक दृष्टि मे है, और इसीलिये उसकी रचना मूर्त को प्रमाणित करने के लिये स्वयं अमूर्त है। आधुनिकता का तादात्म्य इस प्रकार की प्रक्रिया से जोड लेने पर यह स्वत. उद्भूत हो जाता है कि प्रेरणा का स्रोत कोई भी हो (और यदि प्रेरणा का स्रोत है तो वह स्वदेशी है या विदेशी है इसका महत्त्व है कि वह आत्मीय है या अनात्मीय है, इसका ? ) वह स्रोत जबतक रचनाकार के व्यक्तित्व के निर्माण में सहातक न और हो जब नक वह व्यक्तित्व रचना की यन्त्रणा से उन्मथित न हो, तबतक वह स्रोत अपने-आप मे कोई मूल्य नही रखता।

इसी प्रकार जिन्दगी की बहुत सारी तल्खी बिना कोई चोट जगाये, बिना चित्त पर अपने को टंकित कराये उफनकर नीचे चली जाती है, उसका रचना की दृष्टि से कोई महत्त्व नही, महत्व सिर्फ उस तल्खी का या उस उमग का है, जो रचना की आवश्यकता को जन्म दे, जो अभिव्यक्ति हुए बिना रह न सके क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति रचनाकार की जिन्दगी है)।

आनुनिक साहित्य की विशिष्टता उसके परिवेश से नही दृष्टि से उद्भूत

है। उसमे परम्परा को वढाने या तोडने का आग्रह उतना मानी नही रखता, मानी रखता है अपनी सामान्यता की सीमा को वहुत विशाल पटपर प्रतिक्षेपित करने का सकल्प ।

— — —

# परम्परा और आज का कवि

परम्परा शब्द का व्यवहार इतने गलत अर्थों मे हो चुका है कि परम्परा के सही अर्थ से आज के कवि को जोड़ने की बात ही व्यर्थ हो जाती है, जब तक कि उन गलत अर्थों का पहले प्रत्याख्यान न कर दिया जाय। परम्परा रूढि नही है, यह बात तो बार-बार दुहरायी जाती है, पर रूढि का दायरा प्राय. बहुत सकुचित मान लिया जाता है। साहित्य के सन्दर्भ मे यह दायरा वस्तुत सकुचित नही है। साहित्य का माध्यम भाषा स्वय उस अश तक रूढि-सापेक्षहै, जिस अश तक उसमे सिद्ध शब्दार्थ मे सम्बन्ध से काम लेने की विवशता है। भाषा का माध्यम दूसरे कलामाध्यमो से इसी माने मे अधिक कठिनाई प्रस्तुत करता है। हर नया अनुभव शब्दार्थ की पकड़ मे आते ही छटपटाने लगता है, पर साथ ही लाचारी यह भी है कि चाहे जो भी अनुभव हो, वह सबसे अधिक समय और वास्तविक अभिव्यक्ति भाषा मे ही पाता है। 'कह्यौ बिनु रह्यौ न परत, कहे राम रस न रहत'। भाषा मे शब्द बदलते है, अर्थ भी बदलते हैं, पर उनके बीच सम्बन्ध हमेशा पूर्वसिद्धता की अपेक्षा रखते हैं, क्योकि भाषा समुदाय से अर्जित ऐसा सस्कार है, जिसको ग्रहण करने वाले भले ही व्यक्ति हैं, पर वे व्यक्ति उसे समान रूप से ग्रहण करते है, वे भाषा की सम्पत्ति के बराबरी के साझीदार हैं। अर्थ-ग्रहण मे अन्तर अभिधेय वस्तु-जगत् या अनुभव-जगत् के ज्ञान मे कमी-बेशी होने मे नही आता, अन्तर आता है भाषागत शब्द के प्रयोग और उसके अनुसार विभिन्न अर्थ-प्रत्ययो के विस्तार मे कमी-बेशी होने से। कवि इस विस्तार को जिस मात्रा मे ग्रहण करता है, उसी मात्रा मे वह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध रखते हुए भी

शब्द और अर्थ मे अलग-अलग प्रकार के वैशिष्ट्य ला पाता है। दूसरे शब्दों मे यह भी कहा जा सकता है कि वह सिद्ध से सम्भावित शब्दार्थ—प्रत्ययों का अन्वेषण भी अधिक सामर्थ्यपूर्वक कर सकता है। वह रूढ़ि का प्रत्याख्यान न करते हुए उससे आगे जाता है, पर कभी भी उसका अर्थ उसके शब्द से असंबद्ध नही रहता, साक्षात् सम्बद्ध न हो, यह दूसरी बात है। इसीलिये साहित्यशास्त्र ने अप्रसिद्ध लाक्षणिक अर्थ के प्रस्तुतीकरण को लक्षणा का अतिचार माना है, इसे नेयार्थ दोष के रूप में ही स्थान दिया है। व्यंजना वृत्ति को भी अर्थान्वेषण के लिये स्वीकार करते हुए उसे ऐन्द्रिय—मानस या प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं माना, उसे शब्द-व्यापार के अन्तर्गत ही माना है और उसे भाषागत वक्तृबोद्धव्य आदि शर्तों के अधीन रखा है। अतिरिक्त शर्त के रूप में प्रतिभा जरूर रखी गयी, यह प्रतिभा शब्दार्थ-समर्पित अनुभव की प्रखरता छोड़ कर कुछ नही और इसी को कवि और सहृदय की संयोजक कड़ी के रूप मे स्वीकार किया गया।

इस सिद्धान्त के विस्तार मे न जाकर बात यही समाप्त की जाये कि काव्य अपने माध्यम की सिद्धता और अपर्याप्तता दोनो से बँधा हुआ है। अपर्याप्तता का बोध ही आधुनिकता है, यह बोध जितना ही जाग्रत् होता है, उतना ही सिद्धता के सम्पूर्ण आयाम को नये सिरे से पैमाइश होती है और पिछली सिद्धताएँ नयी सिद्धता की सम्भावनाओ को इस प्रक्रिया में 'नवं नवं जायमाना' होकर जन्म देती हैं। आज का हिन्दी कवि भक्त कवि की आराध्य-निष्ठा मे सहमार्गी भले न हो सका हो, उसकी अतृप्ति का साझीदार जरूर है। वह सिद्ध का तिरस्कार नही करता, जैसा कि छायावादी कवियों ने जानबूझ कर किया या जैसा कि सिद्ध कवियों ने उनसे भी बहुत पहले किया था, वह सिद्ध को तिरस्कार्य नही मानता। इतना ही नहीं वह सिद्ध को उसकी समग्रता में स्थापित करके उसे सहज रूप में काव्यग्राह्य बनाता है। आज के कवि ने इसीलिये आँखें खोल कर अत्यन्त परिचित और बिल्कुल घरेलू सन्दर्भो में शब्द-अर्थ को स्थापित किया है। शब्द-अर्थ के सम्बन्धों का यह नैकट्य रोज-मर्रा की भाषा से, उसके नैकट्य से ही आया है। लोक-भाषा और उसके

साहित्य, वच्चो की भाषा और उनके साहित्य, शहरी भाषा की सिलवटो और तकनीकी भाषा की एकागिता, इन सवसे उसने अपनी भाषा-सामर्थ्य को निखारा है। उसने जोखिम भी उठाये है, अनगढपन के, अनावश्यक शोखी के और अपने ही कृतित्व की नश्वरता के और इस जोखिम उठाने का फल है—

कितने सही है ये गुलाव
कुछ कसे हुए और कुछ झरने-झरने को
और हल्की सी हवा मे और भी जोखिम से
निखर गया है उनका रूप जो झरने को है

आज का कवि भक्त कवि की तरह ही भाषा के परिचित अर्थ को ही विस्तार देता है, वह अपरिचित से परिचय नही जोडता। इस माने मे वह रूढ़ि का न तो मात्र निर्वाह करता है, न ही उसका प्रत्याख्यान। वह अभिव्यक्ति को परम्परा जन्म नही देता, परम्परा मे अभिव्यक्ति को जन्म देता है और इस सीमा तक वह भाषा के सिद्ध रूप को सहज रूप मे ग्रहण करके आगे वढने वाला यथार्थवादी है, रूढिवादी या आग्रहपूर्वक नूतनतावादी दोनो मे से एक भी नही। वैसे तमाशा और तमाशाई वनने का चाव किसी भी वसन्त की प्रक्रिया मे स्वाभाविक है, रंगो के साथ वेरहमी और साजो के वेमानी मेल भी कुछ हद तक दुर्निवार है, पर वसन्त के ये खतरे कवि मोल नही लेगा तो कौन लेगा ?

परम्परा के वारे मे दूसरा भ्रम है कि इतिहास और परम्परा एक है। वात्स्यायन ने एकाधिक वार यह दुहराया है कि इतिहास और परम्परा मे अभिन्न सम्वन्ध रहने पर भी परम्परा इतिहास अथवा घटनाक्रम नही है, वह घटनाक्रम से मिलने वाला जातिगत अनुभव है—अनुभव ही नही वल्कि उस अनुभव का जीवित स्पन्दन जो जाति को प्रेरित करता है। १९५९ के अपने इस वक्तव्य से और आगे जाकर वे कहते है कि 'इतिहास से मुक्ति हमारी परम्परा की सवसे वडी देन है'। मै इतिहास की चेतना का एक वहुमूल्य और उपयोगी चेतना तो मानता हूँ, पर उसे पारमार्थिक या एकमात्र मूल्यनिर्धारक चेतना के रूप मे नही मानता, इसका कारण शायद हमारी परम्परा की वह समृद्धि

हो जो मानव नियति को किसी दायित्व या प्रतिशोध से बिना बाँधे उसे केवल माँजती आयी है। ऐतिहासिक और पारम्परिक दृष्टि में मुख्य अन्तर यह है कि एक कालक्रम और देशक्रम से बँधी है, दूसरी क्रम के पौर्वापर्य को बहुत कम महत्त्व देती है, वह महत्त्व देती है आगे जाने की सम्भावना को। उदाहरण के लिये संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत रामायण का पूर्ववर्ती काव्य है, पर पारम्परिक दृष्टि से आदिकाव्य है। गुणवान् को स्थापित करके ही गुण की प्रतिष्ठा है। रामायण का केन्द्र धर्मी है, महाभारत का धर्म, उसमें आगे जाने की सम्भावना है, इसीलिए वह रामायण की परम्परा का ऐसा प्रतिफल है जो व्यक्त तो तिथिक्रम में पहले हुआ पर स्वाभावतः है परिणामी स्थिति का बोधक। निराला की कविता 'सीधी राह मुझे चलने दो' या मुक्तिबोध की कविता :—

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं
आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न भर सकी
न जी सकी परन्तु वह न डर सकी...

अपनी समसामयिक कविता से निश्चित रूप से आगे है। परम्परा में विगत कुछ नहीं, अनागत कुछ नहीं, जो कुछ है वह प्रत्यक्ष है, सत् है, वर्तमान से प्रमाणित है। परम्परा में साहस है कि कह सके—

विगत गत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बस कर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके सी लगी रहती।

परम्परा जाती नहीं, जानी जानी हुई विगत श्रेष्ठता को स्वीकार करती है। वह मृत्यु से नहीं घबराती, इसीलिये वह वैताल बन कर बार-बार पहेली बुझाने के लिये कन्धे पर सवार नहीं होती। इतिहास ठीक इसके विपरीत एक आक्रान्त करने वाली चेतना है। इब्न खल्दून हों, टायनबी हों, वे इतिहास की

अपनी सीमित चेतना के ही कारण विश्व से अपनी दृष्टि संयोजित करके मजहबी मनाग्रह से अपने को मुक्त नही कर पाते, अपने मुक्ति के निर्धारित रास्ते से अपने को मुक्त नही पाते। पश्चिमी जीवन-दर्शन मे कालबद्ध चेतना के रूप मे अस्ति इसीलिये या तो आतंक की छटपटाहट बन कर रह गया है या एक चक्र का अविच्छेद्य पुर्जा मात्र रह गया है। हमारा यह सौभाग्य है कि हमारी सास्कृतिक चेतना पारम्परिक रही है। वह इतिहासातीत रही है। वह विचारो के नही, आचारो के अनुशासन पर बल देती रही है। इतिहास ने हमें झकझोरा है, ऐतिहासिक चेतना ने मूल्याकन का एक और द्वार खोला है। पर उसने अनुक्रिया और प्रतिक्रिया के रूप मे कुछ नये विवेचन या मान चाहे प्रस्तुत किये हो, वैदुषिक चिन्तन को भ्रम मे डाला हो, कुछ नये ऊँट के पीछे दौडने वालों को चमत्कृत भी किया हो, पर वह आज भी हमारी सर्जना की मूल प्रेरणा नही है। आज का समर्थ कवि जैसा कि मैंने अन्यत्र ( 'टाइम इन माडर्न हिन्दी पोइट्री' शीर्षक लेख मे ) प्रतिपादित किया है सीधी रेखा में जीवन को प्रगति को महत्त्व नही देता, वह कालबद्ध अस्ति की चेतना को अनुभव की चरम उपलब्धि नही मानता, वह अपने देश के ऐतिहासिक नामो को नाम भर मानता है, देश के आदर्शों को उनके ऊपर प्रतिष्ठापित करने पर बल देता है। वह आज भी नेतृकेन्द्रित न होकर नयनकेन्द्रित है, वह शंखवल-याकार आरोही गतिचक्रो मे जीवन को आगे ले जाने मे विश्वास करता है, वह इसमे जीवन का प्रामाण्य नही मानता, कितना आगे वह चला है, बल्कि इसमे कि चलने से कितनी दूसरो की सम्भावना जन्मी है—

फोड-फोड कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है
बस उतना मैं खेत हूँ।

वह ऐतिहासिक चिन्तन से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता था, इसलिये प्रभावित हुआ है, पर उसका सावत्सरिक सस्कार, उसका ऋतुबोध,

उसका कालचक्र-बोध इतना दृढ है कि ऐतिहासिक चिन्तन से प्राप्त आशंकाओं से अवगत तो वह है, पर वह भयभीत नही है, वह ठहरे हुए काल के प्रभाव को देखता जरूर है—

यद्यपि मेरे लिये
हवा ने अपने केश उतरवा लिये है
फूलो ने रगीन कपडे पहनने छोड़ दिये है
निर्झर अरगनी पर पड़ी सफेद धोतियो से टँगे है
और नदियाँ सिलवट पड़े मैले बिस्तरो सी बिछी हैं
सूरज किसी बन्द स्कूल के घटे सा लटका है
चाँद आकाश की झील मे
रात भर तैरते-तैरते थक कर
मरे हुए हिरन सा उतर आया है,
चिडियाँ मिट्टी की है
गाती नही टूट जाती हैं
पेडो को झकझोरने पर भी
पत्तियाँ नही मिलती।

फिर भी वह जागने का, आगे बढ़ने का, साहस का, ज़िन्दगी का एक गीत गाना चाहता है। हिन्दी का आधुनिक कवि जिस क्षण को महत्त्व देता है, वह खडनीय या विच्छिन्न नही है, वह सनातन है, उसका क्षण-क्षण है, क्षणिक नही, वह ऐतिहासिक प्रक्रिया नही, प्रक्रिया से गुज़र कर नये प्राण पाने वाला सर्जक है—

भीतर ही भीतर झरे पत्तो के साथ गलता
और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ...

यह ज़रूर है कि भाषा का, अनुभवो का, देश का, नयी वास्तविकताओं का एक ज़बरदस्त व्यवधान है, जो हमे सतह पर सांस्कृतिक परम्परा से विलग करता रहता है, पर यह पुन्डन का सीमाहीन प्रसार ऊपर-ही-ऊपर है। हमारा

पानी इससे विलग है। परम्परा-भावित होने के ही कारण हम देश की वात करते समय भौगोलिक या नस्ली सीमाओ की वात नही करते, हम ऐसे विचार प्रवाह की वात करते हैं, जिसे कोई भी हमसे वँटा सकता है। यह अशेप उदार-भाव स्वाधीनता के पूर्व आत्माभिमानी था, स्वाधीनता के वाद लज्जित है, शायद इसी माने मे आधुनिकता कुठा के रूप मे नज़र आती है। आज का कवि भारत-वन्दना यदि खुले कठ से नही कर पाता तो इसका यह अर्थ नही कि वह अभारतीय है, वह अपने को भारतीय प्रमाणित करने के लिये यह तरीका ही उपहसनीय मानता है। भारतीयता शब्द से नही आचरण से प्रमाणित होती है, वह आचरण सत्य के साहस से अनुशासित हो, तभी सही आचरण है।

और यही विघटन की वात आती है।

यही परम्परा शब्द का विघटनशील मूल्यो के सन्दर्भ मे गलत प्रयोग किया जाता है। इसी गलती से परम्परा और प्रगति को एक दूसरे का विरोधी मान लिया जाता है। लोग भारत के सन्दर्भ मे वात करते समय प्राय परम्परा को या तो शानदार विरासत के रूप मे देखते है, भारत की सम्पत्ति उसकी अध्यात्मता है या उसे एक म्रियमाण मूल्य के रूप मे, भारत का पारस्परिक समाज आधुनिक प्रगति मे एकमात्र वाधा है। वे भूल जाते है कि हमारी परम्परा विज्ञान से सवसे अधिक सगत है, क्योकि वह वस्तु या भौतिक जगत् को, मानव शरीर को, राष्ट्र को, वाह्य आचार को हेय नही मानती, वह साधन को साध्य से भिन्न नही मानती। उसकी दृष्टि निरी आध्यात्मिक नही है, यही उसकी शक्ति है। आध्यात्मिक उसका एक सापेक्ष मूल्य है, 'गोकामा वय ब्रह्मविदो नमस्कुर्म:' याजवल्क्य की यह घोपणा भौतिकवादी घोपणा नही, जिजीविपा की घोपणा है। हमारी पारम्परिक दृष्टि ही अनुभव के विरोध को धरातलो के पार्थक्य के आधार पर अविरुद्ध प्रमाणित कर सकती है। भारती का यह वक्तव्य कि 'मध्ययुग ने कालप्रवाह को मिथ्या माना था, आधुनिक युग ऐसा कोई मान-सिक पलायन नही करना चाहता, लेकिन वह इस प्रवाह मे विवश वहना भी नही चाहता, वह वाह्य परवेश को, संसार को मिथ्या नही मानता, लेकिन

उसे अपना स्वामी भी नही मानता भारतीय परम्परा पर लागू नही है। कम-से-कम भारतीय कला या काव्य पर तो कतई नही। भक्तो के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण भी सापेक्ष है, निरपेक्ष नही।

विघटन की वात हमारी परम्परा के इस सन्दर्भ मे सार्थक नही है। हाँ, परम्परा के नाम पर वहुत से ऐसे मूल्य हैं जिनमे विघटन हो रहा है, इसलिये कि पहले ही से उसमे विघटन हो रहा था, समाज-व्यवस्था का ढाँचा कभी भी स्थायी नही रहा है, स्थायी रहा है मूल्य का एक ऐसा तारतम्य वोध, जिसमे रोजी के लिये दूसरो की चाकरी से अपने पौरुष का, अपने पौरुष से दूसरो के भरण का, दूसरो के भरण से पूर्ण स्वाधीनता का और पूर्ण स्वाधीनता से दूसरो के दुःख का स्वेच्छापूर्वक वरण का मान उत्तरोत्तर ऊँचा माना जाता रहा है। वरावर व्यापक मानवीयता के नये मान की आडी रेखाएँ सामाजिक भेद की खडी रेखाओ को काटती रही हैं। इसी प्रकार कछुआ धर्म को, कवचधर्म को निरन्तर सत्य के अन्वेषण ने भीतर से वेधा है, ज्ञान-चक्षु से देखने पर निरन्तर धर्मशास्त्रो मे वल दिया गया है, निरन्तर त्याग को ही सवसे ऊँचा मान दिया गया है। भारतीय दृष्टि मे जो अविद्या है, वह पहले अपेक्षित है, क्योकि उसी से मृत्यु का सन्तरण होता है और उसी के द्वारा इस सन्तरण के वाद विद्या की सहायता से अमृत का अशन सम्भव हो पाता है। जहाँ तक नैतिक मूल्यो के विघटन की वात है, उसकी सम्भावना उसकी सापेक्षता मे निहित मानी गयी है। पश्चिम के कुछ विचारक हमारी पूरी जीवन-दृष्टि को ही निर्नैतिकता मानकर निर्नैतिकता का गलत अर्थ लगाते हैं, वे यह विश्वास ही नही कर सकते कि यह निर्नैतिकता समता के विषम सूत्रो के उद्भूत नही हुई है, यह उद्भूत हुई है।

" सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते"

की तादात्म्य-वुद्धि से। यह छूछी नैतिकता को भरने वाली-नैतिक-निरपेक्ष मूल्य-दृष्टि है।

अन्त मे उद्योगीकरण और नागरीकरण के अपरिहार्य प्रभाव के रूप मे मूल्यविघटन की वात की जाती है, मैं मानता हूँ कि आधुनिकीकरण स्वेच्छा

से हो या दबाव से एक कृत्रिम-प्रक्रिया है, उसका कोई भी स्थायी प्रभाव मूल्य-बोध पर नहीं होता, जहाँ ये अवस्था उत्कर्ष के बिन्दु तक पहुँच गयी है, वहाँ भी नहीं है। हमारे यहाँ दिख रहा है, उसका कारण हमारी अपरिपक्वता है, हमारी निजी पहचान की कमी है, हमारी आधुनिकता की कमी है, यदि आधुनिकता का अर्थ संस्कारवान् होने का संकल्प है। आज के संस्काराकाक्षी कवि पर इस कृत्रिम विघटन का प्रभाव उद्वेग के रूप मे चाहे हो, अपने लिये स्वीकार्य धर्म के रूप मे कभी नहीं है। परम्परा सार्थक ही इसीलिये है कि आज का कवि इसे जी रहा है और जीवन को आस्वादनीय ही नहीं, सम्भावनीय भी बना रहा है।

---

# नयी कविता में गीत का स्थान

गीत की विधा मर चुकी है इस घोषणा के बावजूद गीत लिखे जा रहे हैं, गीत सुने जा रहे हैं, गीत की विधा जीवित है। यह जरूर है कि गीत नाम की दुर्दशा अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी है। गीत में निहित केन्द्रबिन्दु की बात छोड़ दें, तो गीत वह है, जो पक्के गाने के रूप में गाया जा सके, वह भी है, जो लोकधुनों की कई मुरकियों की याद एक साथ दिला सके वह भी है, जो फिल्मी तरानों के झटके दे सके, वह भी है, जो गाया न भी जा सके तो खींच के बल पर ॐकार की तरह दूर तक पहुँचाया जा सके, वह भी है, जो खेल-कूद, कवायद और अभियान के ताल में सहायक बन सके, वह भी है, जो टेक की तुकों की खूँटियों में कस कर बाँधा जा सके, और वह भी है, जो हमारे समाचार-पत्रों में छपे तारिकाओं के चित्रों की तरह केवल शीर्षक से जाना जा सके कि हाँ, यह गीत ही है। अगर कोई सचमुच गीत की परिभाषा इन तमाम प्रकारों से सामान्य लक्षण निकाल कर करना चाहे, तो उसे बड़ी मुश्किल होगी। उसे विवश होकर कहना पड़ेगा कि गीत एक बहुत ही धुँधली और अव्याकृत विधा है, हाथ भाँजने के लिये बहुत ही सुगम विधा है। पर गीत में गेयता का रहना क्या अपरिहार्य है? यह सही है कि शुद्ध संगीत-रचना के उद्देश्य से गीत लिखे गये हैं, पुराने गीत मरोड़े भी गये हैं, पर क्या काव्य-रचना और संगीत-रचना दोनों एक दूसरे के लिये उपकरण मात्र हैं या दोनों सर्जन की दो समानान्तर और एक-सी सार्थक प्रक्रियाएँ हैं? माना, भारतीय कला-मात्र (संगीत और नृत्य ही नहीं, शिल्प वस्तु और चित्र भी) वागाश्रयी हैं, कोई न कोई पूर्वसिद्ध महाकाव्य, आख्यान खण्डकाव्य या काव्यगृहीत पात्र

या क्षण ही कला का विषय है, इसीलिये, काव्य या साहित्य स्वय कला नहीं है, तो भी इससे यह निष्कर्ष कहाँ निकलता है कि गीतिकाव्य का उद्देश्य गेयता है ? मैं यह नही कहता कि गेय होना कोई दोष है, पर शब्द-रचना का उद्देश्य काव्य मे अर्थानुधावी लय का विन्यास है, न कि अर्थ-निरपेक्ष शुद्ध गणितात्मक लय का, राग का विन्यास। इसलिए परिभाषा के लिये दूसरा आधार ढूँढना होगा। गेयता नियत धर्म नही हो सकती।

शमशेर बहादुर सिंह की इस सूक्ष्म सवेदना का मैं भी कायल हूँ कि "एक सगीत होता है काव्य का अपना और उसकी परख-पहचान भी अपने तौर पर कुछ कवियों को बहुत अच्छी हो सकती है, 'पर' गीतकार कवि कम्पोजर का पर्याय नही है, फिल्म का गीतकार तो है कम्पोजर, फिल्म का गजलगो भी है।" काव्य का 'अपना सगीत' जरूर महत्त्व रखता है। यह सगीत शब्द-अर्थ, अनुभव-अनुभूत, तथ्य-सत्य और पाठक-कवि के सामजस्य पर आधृत है। यह सामजस्य काव्य मात्र मे अपेक्षित है, पर गीतिकाव्य मे स्वरूपत सक्षिप्त होने के कारण इस सामजस्य के पानी की परख ही गीति-काव्य की कसौटी बन जाती है। यह सगीत-रचना का छन्द है, राज है, वह राज प्रत्येक कवि का अपना होता है। इधर विवेचना मे गीत और गीति मे अन्तर किया जाने लगा है, गीत को "साग" या "बैलड" और गीति को "लिरिक" या पर्याय मान कर। हिन्दी कविता मे अगर, यह भेद स्वीकार कर लिया जाये, तो "पार्वती-मगल" गीत-है, "विनयपत्रिका" दोनो है, "सूरसागर" कथा-प्रवाह के क्रम को लेकर चलता है तो वह भी केवल गीत-काव्य है, गीति नही। इसलिये, अच्छा यही होगा कि गीत या गीति इन्हे पृथक् न माना जाये और गीत की कोटि मे गेय होने मात्र से किसी रचना को रखना वैसा ही अन्याय होगा जैसा कि गीति में सौष्ठववादी गुण मात्र से रचना शुमार करना। इस प्रकार की एक निषेधात्मक सीमा (या ठीक कहे, सीमा का प्रतिषेध) दोनो के लिये स्वीकार करके दोनो को एक-दूसरे का पर्याय माना जा सकता है।

अब छाँटनेवाले का काम कुछ आसान हो गया। पर एक प्रश्न अभी बाकी रह गया। नयी कविता और गीत एक दूसरे के विरोधी है, या गीत का

समावेश नयी कविता मे हो सकता है ? जहाँ तक आधुनिक भावबोध, प्रत्यग्र और गहरे अनुभव, अभिव्यक्ति की असन्दिग्धता और बौद्धिक सम्पृक्तता का प्रश्न है, हिन्दी गीतकाव्य नयी कविता की इन तमाम उपलब्धियो से कृतकृत्य सिद्ध हुआ है और इस प्रकार नयी कविता और हिन्दी का इधर का समर्थ गीत-काव्य समानान्तर नही, एक है। नयी कविता एक सामान्य संज्ञा है, गीत उसका एक विशेष प्रकार, क्योकि गीतेतर नयी कविता भी है, छोटी भी, बडी भी (नये महाकाव्य की भी असभावना नही है) और वह गीत मे भिन्न है, मुख्यत इस माने मे कि उसमे गीत की तरह एकोन्मुखता या केन्द्रभूत वृत्ति का आवर्तन नही है, गौण रूप से दूसरे भी विभेदक हैं, गीतेतर नयी कविता मे 'मैं' की निस्सगता प्रखर है, 'तुम' 'वह' का ही काव्य-प्रक्षिप्त रूप है, जब कि गीत मे 'मैं' की सम्पृक्ति गहरी है और 'वह' है ही नही, गीतेतर नयी कविता मे लय का अन्वेषण है, आन्तरिक ताल-रचना भी है और पूरी कविता का कोई एक समग्र सगीत नही है, न आग्रह है, बाह्य ध्वनिगम्य आरोह-अवरोह के लिये, केवल कण्ठ के भीतर एक अर्थसम्पृक्त शब्द-सगीत है, एक निश्चित आरोह-अवरोह भी है। जो गीत कविता ही नही, उनकी बात अलग है, क्योकि गीत नाम वहाँ केवल 'पोस्टर' हैं और गत दस वर्षों में पोस्टरबाजी हिन्दी मे मचबाज़ी के साथ-साथ काफ़ी फली-फूली है। संख्यासुर के बल पर निर्णय लेना अविवेकपूर्ण है, पर अगर संख्या का तर्क मान भी लिया जाये, तो निर्णय इस आधार पर लेना कि कवि सम्मेलन मे अमुक-अमुक के गीत सुनने कितने आये और कविगोष्ठी मे कितनो ने अमुक के गीत मे रस लिया, आज के साक्षर युग के साथ अन्याय होगा। हाँ, आस्वादक-पाठक की संख्या कुछ हद तक निर्धारक हो सकती है और इसमे कोई सन्देह नही कि मच से उतर कर अगर तथाकथित लोकप्रिय गीतकार श्रोताओ मे बैठे, तो उन्हे पता चलेगा कि गलेबाज़ी का जादू दस अधकचरे छोकरे-छोकरियो तक ही व्यापा है, सस्कारी श्रोता तो सिर धुनता ही अधिक मिलेगा। कोई भी इस प्रकार का सग्रह पढ जाये, उसे लगेगा कि वैषम्य के 'टेकनीक' का बार-बार भोड़ा प्रयोग—जैसे 'जीत गयी एक चाल, एक चाल हार गयी', 'एक को उजाड़

गयी, एक को सँवार गयी (भले आदमी, 'उजाडने' का उल्टा 'बसाना' होता है, पर नपी-तुली पंक्ति कहाँ से बैठती) 'इसे जीतने के लालच मे आयु पराजित हो गयी', 'मैं मिली तुमसे कि जैसे मरुधरा मिलती गगन से', 'ये लहरें ऊपर से शीतल, दाह भरा इनका अन्तस्तल, एक बूँद आँसू चाहे तो सारे वन मे आग लगा दें', 'जो न आँसुओं से जनमी हो ऐसी हर मुस्कान अधूरी'—युगो पहले घिसे बिम्बो की घिसाई (दीपक-पतंग, नाव-किनारा, पनघट-डगर, फूल-भौंरा, बहार-कोयल) मसान जगा कर चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति (नीरज इसके प्रधान पाधा है), उर्दू-फारसी की रुबाई और गजल का विद्रूपीकरण तथा लोकधुनो का चूँ-चूँ का मुरब्बा बनाने का निर्बाध व्यापार, इन सबका सम्मिलित प्रभाव पाठक के ऊपर यह पडता है कि सब के सब एक से है, क्योकि सभी निष्प्राण है, सभी सड रहे है, विविधता तो सुरभि मे होती है, शव की सडाँध मे तो एकरूपता ही मिलेगी। गीतो की इस बाढ को स्वाधीनोत्तर युग के मूल्यह्रास का हम प्रमाण मान सकते है। इस ह्रास से संघर्ष करने मे ही सही कविता का निखार आया है, उसमे सार्थकता आयी है, कभी-कभी किसी-किसी के लिये शवराशि से उद्वेजना इतनी तीखी हो गयी है कि उसने इससे सम्बद्ध हर वस्तु, हर वस्त्र और हर घर को भुतहा मान कर वर्जित कर दिया। इसके कारण उसमे संतुलन भी कुछ बिगड गया। पर इसमे तनिक भी सन्देह नही कि गीतो की इस महामारी ने नवोदित प्रतिभा का, विशेष रूप से भावयित्री प्रतिभा का, विकास जरूर अवरुद्ध किया, पाठक के विवेक को कुण्ठित किया और कवि के गीतोन्मुख रूप को हताश भी खूब किया। इस घबराहट मे ही लोगो ने कहना शुरू किया कि गीतो के दिन लद गये। पर वस्तुत गीत विधा नही है, कवि की एक वृत्ति विशेष है। यह वृत्ति उसकी एकतानता, अनुभव की बेसँभाल बेचैनी, खण्ड मे समग्र को पानेवाली दृष्टि तथा इन सबको अपने भीतर की लय से जोडने की लीला का समाहित रूप है। समाधि शिथिल न होनी चाहिए, यह पहली शर्त है, गीतात्मक वृत्ति की। गीत का वर्ण्यविषय इसलिये उसी हद तक महत्त्व रखता है, जहाँ तक वह इस समाधि का आधार बन सकता

है, ध्यान को टिकाने के लिये वह चौखटे का काम कर सकता है। वह प्रकृति चित्र हो सकता है, प्रेम की मन स्थिति हो सकता है, शुद्ध हास्य की मन स्थिति हो सकता है, शून्यता की पीडा हो सकता है, तीव्र विरक्ति हो सकता है, पर, वह जो भी हो, महत्त्व इसलिये रखता है कि वह दृश्य मात्र नही है, वह है द्रष्टा से दृष्टा। आज का युग इस वृत्ति के लिये उपयुक्त अवसर नही देता, यह कहना भूल होगी। हाँ, इस वृत्ति की सही अभिव्यक्ति के लिये कवि को नये अन्वेषण करने पडे है, विशेष करके प्रियमाण गीतवाजी के युग मे। अन्वेषण मे नयेपन का आग्रह कभी-कभी अतिरेक की ओर भी ले गया है; पर जहाँ ईमानदारी है, सोद्देश्य अन्वेषण की, वहाँ अतिरिक भी सहज लगता है, कुछ वचकाना या किशोर चाहे लगे।

अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर, शम्भूनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, केदारनाथ सिंह जैसे कवियो ने लोकगीतो या आदिम जन-जातियो के गीतो से प्रेरणा ग्रहण करके कुछ सफल प्रयोग किये है। इनने कुछ पुरानी लीक के कवियो मे वच्चन, नरेन्द्र शर्मा और विद्यावती कोकिल ने भी लोक-गीतो से स्वस्थ प्रभाव ग्रहण किया, लोकगीतों की सहज और व्यापक अनुभूति तथा विम्व की ऋजुता की सही पकड 'माझी न वजाओ वंशी मेरा मन डोलता', 'टेर रही पिया तुम कहाँ', 'पर्वत पर आग जला वासन्ती रात मे, नाच रहे है हम तुम हाथ दिये हाथ मे', 'रात-रात भर मौरा पिहके वैरिन नींद न आवे', 'आना जी वादल ज़रूर', 'दूज के चाँद ए आयी, आयी गोरी रे याद तेरी', 'अकेली न जइहो राधे जमुना के तीर', 'आँगन का विरवा मीत रे' जैसी कविताओ मे मिलती है। पर ये कविताएँ लोकगीत नही है, क्योंकि इनमे व्यापक मानवीय संवेदना होते हुए भी लोकगीतो का न तो अनगढपन है, न सौ हाथो से किये गये शृङ्गार का विचित्र सँवार ही है। इन कविताओ का शिल्प पूर्ण रूप से सुघटित है तथा इनका सिंगार एक हाथ का सिंगार है। ये लोकजीवन के अनुष्ठान का अंग नही वन सकती, ये व्यक्ति के आस्वादन के लिये विषय जरूर है। हाँ, ये व्यक्ति से लोकजीवन के जीवन्त संस्कार की अपेक्षा ज़रूर रखती है। पर इस अन्वेषण

ने जब गलत मोड़ लिया है तो कविता की भाषा तथा लोकगीतों की सहजता दोनों की दुर्दशा हुई है। भाषा के प्रति जो निष्ठा और गर्व का भाव होना चाहिए, वह 'आंचलिक प्रभाव' के नाम पर मनमानी करने वालो मे अपने आप घट जाता है, जिससे उनकी भाषा असामान्य तो हो जाती है, पर प्रेषणीय नही रहती, न रहती है वह भाषा ही। आंचलिक शब्द या वाक्य खण्ड उद्धरण के रूप मे, स्मृतिबोधक शब्द-समूह के रूप मे उपयोगी हो सकते हैं, पर हिन्दी की संघटना मे अगर वे बाधक होते हैं तो वे एक प्रकार की ऐसी गड़बड़ी पैदा करते हैं, जिसको कोई भी समाज स्वीकृति नही प्रदान कर सकता है। जो लोग भोजपुरी से परिचय केवल भोजपुरी फिल्मो और भोजपुरी भावित फिल्मी गीतो के माध्यम से पाये हुए हैं, वे जब भोजपुरी के भाव अपने ऊपर उतारने लगते हैं, तो अपनों के बीच तो तमाशा ही बन कर रह जाते हैं, पर संस्कारी जन के लिये क्षोभ के कारण बन जाते हैं। आंचलिक भाषाओं में गीत के नाम पर जो रचना-जाल फैल रहा है, वह तो और भयावह है। उसमे तो सारा शब्द-विन्यास, भाव-विन्यास और बिम्ब-विन्यास उधार लिया हुआ है कबाड़खाने से, और आंचलिक भाषा केवल क्रिया देती है या पेड़-पौधो, पशु-पक्षियों के नाम देती है। लगता है हरिणी के पैरो मे चक्की बाँध दी गयी हो। आंचलिक भाषाओं की अपनी लोच नष्ट हो रही है। इस प्रकार के प्रयत्न लोकरुचि को विकृत करने मे ही सहायक सिद्ध होंगे। जो स्थान पत्रकारिता मे सनसनीखेज, मस्ती और घटिया (पीली) पत्रकारिता का है, वही कविता मे इस प्रकार के लोकभावित गीतो या जाने क्या-क्या भावित लोक-गीतो का है। ऐसे गीत कविता के लिये सुरुचि का बना-बनाया वातावरण बिगाड़ रहे हैं। इसीलिये इस लोकमार्गी अन्वेषण के खतरे पर बल देना इतना आवश्यक है।

बहुत ही सीमित पैमाने पर, अधिक सधे रूप मे, हिन्दी के मध्ययुगीन गीतरूपो को नयी अर्थवत्ता देने का यत्न किया गया है। इस प्रयत्न मे ऐसे लोग अधिक सफल हुए हैं, जो छन्द के और शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ रहे हैं। प्रसाद, निराला, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, नामवर सिंह जैसे कवि

इस प्रत्यन्वेषण मे सिद्धहस्त रहे है। पद-शैली और उसमे विशेषकर ह्रस्व स्वरो की लडी पिरोने वाली शैली का उपयोग करने मे निराला बहुत कुशल हैं (जैसे, 'तन की मन की धन की हो तुम, नवजागरण शयन की हो तुम', 'तपन से धन-मन-शयन से, प्रातजीवन निशि नयन से')

नामवर ने सवैये का उपयोग किया है, पर उनके सवैये का प्रत्येक चरण अपने मे पूर्ण है, चौथे चरण के लिये न्योछावर नही हैं। गिरिजा कुमार माथुर ने 'केशर रग-रँगे वन' जैसी कविताओ मे सवैये के खण्डो का प्रयोग किया है। नवीन ने 'माई री मेरे भवन लागी आग' जैसी कविताओ मे ध्रुपद का सस्कार लाने का प्रयत्न किया है। ये प्रभाव लोक-साहित्य के प्रभाव की अपेक्षा अधिक स्वस्थ प्रभाव हैं। इस प्रकार के प्रत्यान्वेषण मे उपलब्धि और नयी उपलब्धि सबके वश की बात नही है और इसलिये पद-शैली की टेकबन्दी की विवशता ने गीतो के आन्तरिक अभिप्राय को अनाडी हाथो मे पकड कर बहुत नष्ट भी किया है। पद की जान टेक की तुक नही है, टेक का केन्द्रस्थ भाव है। वह भाव प्रत्येक खण्ड मे अनुगुजित न हो, तो तुक मिले भी तो कुछ बात नही बनती। 'विनय पत्रिका' के उत्तरार्द्ध के लम्बे पद इस बात के प्रमाण हैं कि रुन-भुन शैली से अधिक परिपक्व शैली ही गहरे और परिमार्जित अनुभव की जटिलता को व्यक्त कर सकती है।

गीत के नये अन्वेषण के लिये कुछ लोग पराये द्वार की ओर झाँकते फिरते हैं 'सानेट' गजल, रुबाई, 'हायकू', गाथा, आर्या, कीर्तन, आख्यानक, जाने कितने रूपो की आज़माइश की गयी है। प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर, गोविन्दचन्द्र पाडेय, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र जैसे कवियो ने जो प्रयोग किये, उनसे केवल एक बात सिद्ध हुई है कि हिन्दी की प्रकृति तुकों की सतही और बाहरी बन्दिश स्वीकार करने के लिये तैयार नही है, और न तैयार है एक निश्चित परिणाम वाली पक्ति को अर्थ की इकाई मानने के लिये। यह स्मरण रखने की बात है कि प्राचीन भारतीय साहित्य मे सर्वाधिक प्रयुक्त छन्द आर्या:और गाथा के चरण विपम होते हैं, 'सानेट', विशेषकर टूटा हुआ 'सानेट' ( जैसे त्रिलोचन शास्त्री की 'मेहदी और चाँदनी' ) हिन्दी

में खप सकता है। गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के द्वारा किये गये आर्या के प्रयोग भी हिन्दी मे नयी सम्भावना रखते हे। अज्ञेय और माचवे के त्रिपदी-प्रयोग भी उतने अनजाने नही लगते। भवानी प्रसाद मिश्र और गिरिजाकुमार माथुर के 'वैलड' भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति के साथ समरस ही है पर गज़ल और रुबाई, लगता है, किसी भी तरह हिन्दी मे फव नही सकते। इसका कारण यह है कि ये दोनो रूप अपनी सीमा तक मॉजे जा चुके है। इनको नया संस्कार देना अब कठिन ही नही, असम्भव है। हिन्दी-उर्दू एकता के नाम पर यह मोह चल रहा है, पर स्पष्ट रूप से मानकर चलना चाहिए कि काव्य-रूपो के क्षेत्र मे हिन्दी और उर्दू की परम्पराएँ मूलत भिन्न है। उर्दू के अस्वस्थ प्रभाव ने ही हिन्दी के शक्तिशाली छन्द के वन्ध को तोड़मरोड दिया है, उदाहरण तथाकथित गीतकारो की रचनाओ मे भरे पड़े हैं।

रूप के ये अन्वेषण अपने आप मे वहुत सार्थक नही है, वे सार्थक है भाव-वोध के साथ समजस होकर। भाववोध के क्षेत्र मे सफल आधुनिक गीतकार ने सवसे अधिक अन्वेषण किया है वर्ण्य-विषय की स्पष्टता और सक्षिप्तता के वारे मे। अज्ञेय का एक गीतयुग्म है दूर्वाचल और सूर्यास्त। चित्र है, पार्श्व-गिरि का नम्र चीडो मे :—

डगर चढती उमंगी-सी।
विछी पैरो मे नदी, ज्यो दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीडो मे
मैंने आँख-भर देखा।

इसका प्रतिसवादी चित्र है—

'धूप'
—माँ की हँसी के प्रतिविम्व-सी शिशु-वदन पर—
हुई भासित
नये चीडो से कटीली पार की गिरि-शृखला पर गीति।"

एक मे आवेग को चुनौती हैं, तो दूसरे मे आवेग के द्वन्द से सहज मुक्ति है। गिरि-शृखला वही है, पर जहाँ दर्द की रेखा-सी विछी पैरो मे नदी सार्थक थी, वहाँ सूर्यास्त की धूप से भासित गिरि शृखला सार्थक हो गयी है।

इसीलिये, 'अरे यायावर रहेगा याद' का समाधान है, 'नहीं, फिर आना नहीं होगा।' इस गीतयुग्म मे अद्भुत सक्षिप्तता है।

भारती की कनुप्रिया के चौथे गीत की ये पक्तियाँ—

"यमुना के नीले जल
मेरा यह वेतस लता-सा काँपता तन-बिम्ब, और उसके चारो
ओर सावली गहराई का अथाह प्रसार, जानते हो
कैसा लगता है—
मानो यह यमुना की साँवली गहराई नही है
यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर
मुझे चारो ओर से कण-कण रोम-रोम
अपने श्यामल प्रगाढ अथाह आलिंगन मे पोर-पोर
कसे हुए हो।"

सक्षिप्तता का ख्याल नही रखा गया है, पर अर्थ की सीधी चोट है।

निराला के गीत—"सीधी राह मुझे चलने दो, अपने ही जीवन फलने दो—
अपने ही उत्ताप बुरे फल उसे फफोलो से गलने दो
अपने रोग-भोग से रह कर निर्यातन के कर मलने दो',

मे जितनी ही सीधी व्यथा है, उतना ही सक्षिप्त बिम्ब विधान भी। फफोलो की तरह गलना और निर्यातन के कर मलना, इन दोनो बिम्बों मे जो दीर्घ निरुपाय व्यथा का अंकन हुआ है, वह दूसरे किसी बिम्ब से सम्भव नही था।

इस उपलब्धि से भी अधिक महत्त्व रखती है बौद्धिक सवेदना मे गीतात्मक वृत्ति को स्थापित करने मे सफलता। बौद्धिकता भारतीय काव्य-परम्परा के लिये कोई अजनबी चीज नही है, पर बुद्धि से अर्थ तर्क-निरपेक्ष शक्ति से है। वह बुद्धि-चित्त से परे है, तभी उसमे आनेवाली रम्यता या माधुर्य का बोध चित्त के लिये 'अबोध-पूर्व' होता है। प्रकृति की एक गाथा मे यह भाव आता है—आम मे बौर नही आये, कोयल भी नही बोली, पर वसन्त आ गया। यह उत्कण्ठा अतीन्द्रिय उत्कण्ठा है, अतर्कातीत उत्कण्ठा है, पर इसमें एक बौद्धिक संगति है। पश्चिम के सम्पर्क ने बौद्धिकता की छूटी हुई डगर की ओर

हमारा ध्यान आकृष्ट तो किया, पर हमारी बौद्धिकता के आयाम को उसने सङ्कीर्ण भी किया। इसका परिणाम सबसे बुरा यह हुआ कि खामखाह आध्यात्मिकता और भौतिकता के अलग नारे लगने लगे। पश्चिम ने यथार्थ के प्रति सजग और खुली दृष्टि तो दी, पर हमसे हमारा अखण्ड बोध ही छीन लिया इस बात को सबसे अधिक समझा 'नवीन' ने। वे सबसे पहले बौद्धिक भावबोध के आधुनिक कवि है। उनकी 'एक बिन्दु इन्दु-मथित सिंधु-लहर छोड चली' शीर्षक कविता मे खण्ड से अलग होकर फिर उससे मिलने की बेचैनी बड़ी सूक्ष्मता के साथ अंकित है। उनका दूसरा लम्बा गीत है, "यह रहस्य उद्घाटन रत नर', इसमे बौद्धिकता के संघर्ष का बहुत शक्त चित्रण है। इसमें मानव की नकार-शक्ति का चित्रण है। इसमे मानव की नकार-शक्ति का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

काल कँपा, आकाश कँप उठा
सुन-सुन इसकी 'न-इति' हठीली,
सब ने देखा है मानव की
ग्रीवा उन्नत यदपि लचीली।

तो एक क्षण के लिये भी नही लगता कि यह मानव नवीन से कोई इतर मानव है (विनय और दर्प का साकार प्रतिबिम्ब)। नवीन का पथ उनके बाद यदि किसी से पूर्ण रूप मे सचरित हुआ तो अज्ञेय से। उनका गीत 'यह महाशून्य का शिविर' अपने मे पूर्ण परमार्थ गीत है। पर बौद्धिकता के उन्मेष ने प्राय· समस्त आधुनिक गीतकारो को प्रभावित किया। कही-कही यह उन्मेप आग्रह के रूप मे भी आया है। कुछ कवियो मे वह नारेबाजी के स्तर तक भी उतरा है और कुछ कवियो के रीते अन्तस् के लिये निस्सगता का एक बडा घटाटोप आवरण भी बन गया है, पर समग्र रूप मे इसका प्रभाव बहुत ही स्वस्थ और प्राणप्रद पडा है। इस उन्मेप के कारण ही गीतिकाव्य 'कोरी भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति' बन रही है। कुँवरनारायण की 'उतने नही' शीर्षक कविता मे गीतात्मकता बौद्धिक आयाम मे सही माने मे स्थापित है। रघुवीर सहाय,

विजयदेवनारायण साही और सर्वेश्वर को बौद्धिकता निम्नगता के पर्याय के रूप मे मिली है, जो इसके सहारे अपने ऊपर हँस लेते हैं, फबती कस लेते हैं और अपने ऊपर दया-उपेक्षा भी दिखा लेते हैं। नरेश मेहता और केदारनाथ सिंह ने बौद्धिकता को सौष्ठव के लिये उपादान के रूप मे स्वीकार किया है। परमानन्द श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी और अजितकुमार ने हलके अनुभव को भी गहराई का आयाम देने से लिये बौद्धिकता का सहारा लिया है। धर्मवीर भारती, श्रीकान्त वर्मा, चन्द्रदेव सिंह, देवेन्द्र बगाली, रामसेवक श्रीवास्तव ने अनुभव की तलखी के लिये बौद्धिकता अपनी कविता मे ढाली है। पर बौद्धिकता केवल साधन नही है, साध्य भी है, कम से कम एक अतीन्द्रिय अपूर्व बोध के रूप मे गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, विपिन अग्रवाल, शमशेर, कान्ता, विनोदचन्द्र पाण्डेय, गजानन मुक्तिबोध, नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और रणवीर सिनहा जैसे कवियो के लिये।

बौद्धिकता ने अमूर्त आग्रह को जो जन्म दिया है, उसके कारण जहाँ एक ओर बिम्ब-विधान मे पैनापन आया है, वहाँ दूसरी ओर बहुत खुरदुरापन भी। यह तो शिव-प्रभाव के रूप मे हुआ, तमाशेबाज़ी भी कम नही हुई है। चौंका देने वाले बिम्ब या तेज़ झटका देने वाले बिम्ब जो बुरी तरह सतह पर आये हैं वे महज़ प्रदर्शन के खयाल से आये हैं, किसी अर्थ के आग्रह के कारण नही। दूसरा खतरा-जो इससे उत्पन्न है, वह है, शब्द-विन्यास, वाक्य विन्यास और ध्वनि-विन्यास मे सर्वत्र बेसुरेपन का निर्लज्ज प्रसार। इससे भी अधिक चिन्तनीय है बौद्धिकता के नाम पर झूठे अभिमान का आतक।

आधुनिक गीतकारो और तथाकथित गीतकारो के बीच मे कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं। इनमे से बहुत से, अनजान मे, आधुनिको से अधिक आधुनिक हुए हैं और बहुत से जान-बूझ कर मरियल गीतो की पक्ति मे अपनी गीतो की दीप पक्ति मिला रहे हैं झूठी लोकप्रियता के प्रलोभन मे, कुछ ऐसे है, जो गोष्ठी मे अपने को आधुनिक कवि के रूप मे ज्ञापित करना चाहते हैं, पर कवि-सम्मेलन के मच पर गलेबाज़ गीतकार कहलाने का लोभ सवरण नही कर पाते। मैथिलीशरण गुप्त सुमित्रानन्दन पत, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी

और श्री गिरिधर गोपाल के गीत अनायास ही आधुनिक है। शिवमगल सिंह 'सुमन', रवीन्द्र भ्रमर, रूपनारायण त्रिपाठी, रामविनायक सिंह और अधीर जैसे कवि समन्वय स्थापित कर रहे हैं। मध्यमा प्रतिपदा वाले इन भाग्यशाली कवियो की नामावली अलग देने का मुख्य अभिप्राय यह है कि गीत और नयी कविता का ठीक-ठीक सम्बन्ध जोड़ा जा सके। नयी कविता की परिधि के भीतर गीत लिखे जा सकते हैं और उसके बाहर भी। यह जरूर है कि आधुनिकता की सचेत्यता गीतो मे कोमलता चाहे न दे, शक्ति और प्रौढता जरूर देती है और नयी कविता के गीत इस शक्ति के प्रमाण है। मैं नही मानता कि गीत की विधा मर गयी है। हाँ, यह जरूर कहूँगा कि गीत का विवेक कुछ कुठित हो गया है, क्योकि गीत मूलत आत्मनिष्ठ है और आत्मनिष्ठ होने ही के कारण वह आत्मीय संस्पर्श रखता है, गीत का मूल्यांकन उसके बाहरी परिधान से नही किया जा सकता जैसा कि कवि-सम्मेलनो तथा आधुनिकता से कुढे हुए कुछ महन्ती ढंग के आचार्यो की कृपा से बुरी तरह किया जा रहा है।

मैं यह दावा नही करूँगा कि जो गीत मुझे प्रिय होगे, वे सवको उसी तरह प्रिय लगेगे, पर किसी न किसी मात्रा मे वे गीत दूसरों को भी गीत ही लगेगे, इसमे कोई सन्देह नही। इसका अर्थ यह हुआ कि गीतों के लिये सामान्य कसौटी हो तो सकती है, पर वह उत्कृष्टता का निर्धारण निश्चित रूप से नही कर सकती। गीतेतर कविता के विषय मे यह बात लागू नही होती, क्योकि उसमे अनुभव आत्मनिष्ठ होते हुए भी अपरिमित है। वह सहृदय सामान्य मे एक साथ, एक तरह झकृत होने वाला अनुभव है, बगर्ते कि सहृदय की बौद्धिक तैयारी एक अपेक्षित स्तर की हो। गीतो के लिये जिस सामान्य कसौटी की बात रखी गयी है, मानी हुई बात है कि निपेधात्मक अधिक होगी, विधि के नाम पर गीतकार की मुक्ति रहते हुए भी स्वेच्छा से एक विशेप भाव-परिधि मे बँधने की इच्छा है। यही गीत की जान है।

मैंने जो भी विवेचन किया है, वह नयी कविता के आमने-सामने आधुनिक गीत को रखकर। इसलिये यह न समझा जाये कि मैंने कसौटी निर्धारित की है। उदाहरण मैं अभी इसलिये नही दे सका हूँ कि गीति-काव्य के उदाहरण देते

समय उसकी लम्बी व्याख्या भी देनी ज़रूरी हो जाती है। नाम गिनाते समय मैंने किसी पौर्वापर्य का ध्यान नही रखा है और न सूची को छान-बीन कर पर्ण बनाने का यत्न किया है, क्योकि मेरा यह विवेचन शास्त्रीय नहीं है, एक मुक्तमना पाठक का मुक्त विवेचन है। मैंने केवल आधुनिक गीत की सम्भावनाओ और खतरो का परिचय देना चाहा है। केदारनाथ सिंह ने जीने के लिये कुछ शर्ते मानी हैं, उन शर्तो मे अन्तिम शर्त है :—

ज़रूरी है,
सरहदो पर कही हो अनुगूंज,
जो अस्तित्व के हर तार से हो कर—
गुज़रती रहे,
कही हो परछाइयां,
जिनसे हवा मे—
खयालो के कोण बनते रहे
कही हो सम्भावना—
जो हर थकन के बाद हमको—
बोलने के लिये बाते,
तोडने के लिये तिनके,
बैठने के लिये,
थोडी-सी जगह दे जाये!
जरूरी है।

यह शर्त और कुछ नही, बौद्धिक भावबोध के स्तर पर गीत है। मैं गीत काव्य को जीने की शर्त के रूप मे स्वीकार करता हूँ, इसीलिये उसे म्रियमाण देखना गवारा नही कर पाता।

— — —

# आधुनिक हिन्दी-साहित्य में व्यंग

व्यग्य का अर्थ प्राचीन साहित्यशास्त्र मे काव्य का मर्मभूत प्रयोजन था। पर उदाहरणो मे व्यंग या व्यंग्य के नाम पर मध्ययुगीन साहित्य मे दो प्रकार के प्रसग आने लगे, निभृत प्रेम के उद्घाटन एव अपराधी नायक को उपालम्भन। उदाहरण के लिये प्रौढा खण्डिता नायिका का यह उपालम्भ देखिए :—

क्यो घनस्याम अबै दुचितै भये मो तन दीठि करो सुखदाई।
न लाल गुलालहु की अरुनाई न कंज गुलाबहु की सरसाई॥
एतेहु पै एतनो गहरो रँग धनि है रँगरेजिन की चतुराई।
साँची कहौ इन नैननि रंग की दीन्ही कहाँ तुम लाल रगाई॥

फल यह हुआ इस प्रकार के वचन ही व्यग्य या व्यग कहे जाने लगे और व्यंग्य की एक अलग विधा रंग लाने लगी। यह सही है कि प्राचीन साहित्य मे हास्य के नाम पर प्राय. थोडा हास्य मिलता है और व्यग्य के नाम पर या तो नाटकीय विडम्बना के उदाहरण मिलते है या जाति-स्वभाव, व्यावसायिक दोप या वैरूप्य की स्थिति पर ग्राम्य प्रहार मिलता है। मत्तविलासप्रहसन, चतुर्भाणी, देशी न-नर्ममाला जैसी इनी-गिनी कृतियो को छोड कर शुद्ध हास्य-व्यग प्राचीन साहित्य मे वहुत विरल है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे इस विधा ने कई कारणो से महत्त्व प्राप्त किया। पहला कारण तो यह था कि विदेशी शासन के द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर वन्दिश लगने के कारण व्यग्य एकमात्र माध्यम था, सत्य के प्रकाशन का। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, वालमुकुन्द गुप्त माधव मिश्र और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और विजयानन्द दुवे ने इस माध्यम की धार तेज की।

दूसरा कारण था सामाजिक एव सांस्कृतिक नवजागरण का संघात। रूढ़िवाद के ध्वंस के लिये व्यग का उपयोग हुआ और सुधारवादियों के खोखलेपन के पर्दाफाश के लिये भी व्यंग का उपयोग हुआ। १९३० के आसपास के कथासाहित्य मे इस प्रकार के व्यग का विशेष प्रस्फुटन हुआ। तीसरा कारण था स्वाधीनता प्राप्ति के वाद यथार्थ और स्वप्न का वैषम्य, जिसने स्वाधीनता के पूर्व वहुत से प्रतिमानो में अर्थहीनता देखने के लिये विवश किया। लोकभाषाओ से कार्यवस्तु लेकर इस अर्थहीनता को मुखर किया गया। इस प्रकार का व्यग वहुत पैना न रह सका। उसमें प्रचार का उद्देश्य निहित सा रहने लगा। तव चौथा भीतरी कारण उपस्थित हुआ। यह था आधुनिकता का वोध। आधुनिकता का वोध शुरू ही होता है एक तटस्थ और निर्मम प्रश्नाकुलता से। प्रत्येक पूर्वस्वीकृत मान कठघरे मे खडा कर दिया जाता है। समाज और व्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और जनहित के वीच गहरा द्वन्द्व छिड गया है और मनुष्य इस सघर्ष से छुटकारा पाने के लिये जिन सीधी राहो की खोज कर रहा है, वें राहे उसके पाँव की जंजीर वनती जा रही हैं। वह तव वाहर न देखकर भीतर देखता है। वह खोखले आदमी के भीतर झाँकता है, क्योकि वह महसूस करता है कि उसके खोखलेपन को स्वीकार किये विना मुक्ति नहीं है। तव वह पाता है कि वह नीलाम चढ रहा है, वह नीलाम वोल रहा है, वह नीलाम खरीद रहा है। यह वोध उसे व्यंगशील वना देता है। वह सतही मानो कि विडम्वना करने लगता है, वह ससार के रगमच पर होने वाले अभिनय-व्यापार का स्वाग करने लगता है। वह अप्रत्याशित रसभंग, अतिरजित कल्पना और निर्मम आत्मालोचन करते-करते एक विराट व्यग वन गया है। इस चौथे कारण ने साहित्य की प्रत्येक विधा को, चाहे वह खानी या रिपोर्ताज नुमा निवन्ध हो, यात्रा विवरण हो, कविता हो, कहानी हो, नकल हो, नाटक हो, व्यंगमय वनने के लिये विवश कर दिया है।

अव यह मान्यता भी ढह गयी है कि व्यंगप्रधान साहित्य उच्चतम कोटि का साहित्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें शिव नहीं है, समरसता नहीं है या सन्तुलित शाश्वत दृष्टि नहीं है। वस्तुत: शिव, समरसता या सिद्धता ये मान

ही कुछ कमज़ोर होने लगे हैं। आज का सवेगशील व्यक्ति इतना विभक्त है कि वह समग्रता की बात सोच ही नही सकता। वह विरसता मे ही रस पाता है। वह अधूरेपन या अधकचरेपन मे ही शक्ति ढूँढता है क्योकि वही अधिक वास्तविक है, वही अधिक अनुभाव्य है। इसका यह अर्थ नही कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे व्यंगेतर कुछ लिखा ही नही जा रहा है। गीत लिखे जा रहे हैं, नकली भी असली भी, अरूप कल्पनाये भी प्रसूत हो रही है, वीर रस का संचार भी किया जा रहा है, सूक्ष्म ऐन्द्रिय अनुभव भी आँके जा रहे है। पर इन सब मे से जो स्वर निकलता है, वह स्वर व्यग का सवादी है। युद्ध की कविताओं ने व्यगवृत्ति को ही अधिक उभारा है। हिन्दी का साहित्यकार बड़ी व्यथा से अपनी प्यारी मूर्तियाँ खण्डित होते देख रहा है, वह मूर्ति-भञ्जक नही है, पर वह नयी मूर्ति गढने के लिये विश्वास नही पा रहा है, क्योकि वह चाहता है कि वह नयी मूर्ति अगर गढी भी जा सके तो ऐसी हो कि वह खडित न होने वाली हो सौ-सौ हथौड़ो की चोटो से भी। यह व्यथा उसे अपने प्रति निर्दय बनाती है। वह कल्याण के पीछे नही दौडना चाहता, वह अकल्याण के मूल पर पहले मट्ठा डालकर ही दम लेना चाहता है। सवेदनशील व्यक्ति बिखराव का प्रतीक है, वह सहत नही है। इसीलिये उसे अपना सबसे बड़ा वैरी अपना मसीहापन ही लगता है। वह अपनी अक्षमता को छिपाना नही चाहता, वह संघर्ष करने से नही भागता, सघर्ष की तो वह प्रक्रिया है, पर सघर्ष की व्यर्थता को वह समझता है। इसीलिये उसका व्यंग आत्मपरक है, गहरा है।

उदाहरण के लिये कुछ कृतियों को लिया जाय। 'विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ' एक नकली और थोथी वृद्धपूजा या विनोद शर्मा का ही शब्द प्रयोग करूँ, जीवित-श्राद्ध की प्रवृत्ति पर गहरा व्यग है। व्यग उससे भी बडा यह है कि इसे हलके ढग से लेकर टाल दिया गया। 'अपने खिलौने' भारत की राजधानी की नयी कल्चरहीन कल्चर के तमाशे का बहुत ही पैना परीक्षण है, पर जिनका परीक्षण है, वे पढेगे नही, पढेगे भी तो कहेंगे, वाह, कैसे बढिया अशआर हैं, तबियत झूम उठती है। सुने तो लेखक सिर पीट ले। 'अंगद के पाँव' सब रग,

गरम पकौड़ी, 'मुर्गछाप हीरो' जैसी कृतियाँ व्यंग की नयी संभावनाओं की प्रतीक है। 'अंगद के पाँव' में अनलंकृत सीधे-सादे ढंग से आलोचना, इतिहास एवं संस्कृत के छिछोरेपन को इस तरह निवारण किया गया है कि शर्मदार को तो चुल्लू भर पानी काफी हो। पर व्यंग अकारण ही गया कहना चाहिए। ऐतिहासिक चिन्तन में शोध-आलोचना के मरियल टट्टू बड़े शान से जुते हुए हैं, 'सब रंग' में राष्ट्र प्रतीक, मार्ग-दर्शन, सभ्यता की न्यामतें आदि निबन्धों में आधुनिक भारतीय जीवन की लफ्फाजी, अनछुई देशभक्ति, अनसमझी विदेशी नकल और अनथहाई गहराई के झूठे दंभ के ऊपर बड़ी महीन चोट की गयी है और यह चोट उन्हीं हरबा-हथियारों से की गयी हैं, जिनका प्रयोग आधुनिकतावादी करते हैं। पर मियाँ की जूती मियाँ के सिर फबन जैसी लगती है, मियाँ को अपनी जूती की नाजनीनी का पूरा तजुर्बा है। गरम पकौड़ी और मुर्गछाप हीरो में कथ्य उतना नहीं है, जितना शिल्पविधान। वैसे शिल्पविधान जोरदार है।

नयी कविता में रोमान्टिक छिछले प्रेम की भावहीन वीरपूजा की अवास्तविक और असामंजस भावुकता की अच्छी मरम्मत हुई है। आधुनिक हिन्दी कथासाहित्य में तो प्राणवत्ता ही व्यंग में है। पर उसके ब्योरे में जाने के बजाय मैं अपनी बात—एक ग्रीटिंग कार्ड 'वसन्त' कविता के एक उद्धरण से समाप्त करूँगा :—

गुजरते वर्ष की अशमित चिता के दाह पर उल्लास,
सामूहिक हँसी, रंग का खुल खेल
विरह से बींधी मगर हर तान;
अजब यह नवरसन व्यापार
नग्न कुसुमन, मुक्त गायन, मुग्ध नर्तन
व्यष्टि के दुःख का खुला अवमान
विगत का उपहास, अनागत को कीच काँदो खेलने की छूट
क्या यही ऋतुराज ? यह विदूषक ?
वस्तुओं की व्यर्थता की बोल नीलामी, यही जिसकी वृत्ति।

नव सहमती मजरी की भेट किसके लिये ?
प्रत्युत्पन्न भव की शून्यता के बोध, लो करो स्वीकार,
यह व्यर्थ जाती भेट ।

---

# सत् चिद् वेदना के कवि मुक्तिबोध : एक श्रद्धांजलि

गजानन माधव मुक्तिबोध के कवित्व को आँकने के लिये जिस समय की अपेक्षा है, वह समय मुझे नही मिला और विना आँके आलोचना लिखने के लिये जिस कल्पना की कृपा चाहिए, वह कल्पना मुझे नसीव नही हुई, इसीलिये मन मे वड़ा संकोच है कि दिक्काल के कंधो पर खड़े कवि पर क्या लिखूं, कैसे लिखूं ? कैसे कह दूँ कि वे महज़ उन्मेषशालिनी स्वप्न-सृष्टि के कवि थे, कैसे कह दूँ कि वे निरुपाय दु खबोध के कवि थे या जनवादी मुक्ति थे अग्रदूत, उनकी अनगढ़ भाषा, उनके प्रस्तर-युग के हथियारो की तरह खुरदुरे सहस्र-शीर्षा-विम्व, उनका वौद्धिक पर आरण्यक संस्कार—ये सव सामान्य आलोचक को परास्त कर देते हैं। ईमानदारी की वात तो यह है कि मुक्तिबोध वीस वर्ष बाद के कवि है। आज की अधुनातन कविता उनको समझने की 'निसैनी' भर है। मैं उनके काव्य के सदेश या सौष्ठव या स्वरूप पर कुछ कहने का साहस नही करूंगा, केवल एक चीज मुझे ऐसी लगी ( जिसको गाह तो शायद मैं न सकूं ), जो मुझे छू जाती है क्योंकि मेरे समग्र सास्कृतिक वोध को छू जाती है। मैं अपने विचार उस संस्पर्श तक ही सीमित रखना चाहता हूँ। सच्चिदानन्द की दार्शनिक व्याख्या से अधिक उसकी काव्यानुभूति से परिचित रहा हूँ।' क्योकि सच्चिदानन्द इस धरती के एक छोटे से आँगन में 'गोधूलि धूसरांग' होकर नाचे हैं। इसी परिचय के सहारे 'सत् चिद् वेदना' की अनुभूति को पहचानने की कोशिश करूंगा। मुक्तिवोध 'दिक्काल के जुलूस' देखते-देखते यह अनुभव करने लगे हैं कि 'मान महत्ता की निराकार केवलता' से भरा यह

अधपहचाना जुलूस जाकर एक ऐसे सागर मे डूब गया है, जिस 'काले सागर का सुदूर स्थित पश्चिम किनारे से जरूर कुछ नाता है' और इसीलिये 'हमारे पास सुख नही आता है'। मुक्तिबोध सत् के प्रसार से निरपेक्ष नही रहना चाहते। वे चाहते हैं कि —

धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम मे एक मेरा छटपटाता वक्ष,
स्नेहाश्लेष या संगर कही भी हो,
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम मे एक मेरा पक्ष,
मेरा पक्ष, निस्सदेह

बना रहे। साथ ही वे अपनी सार्थकता को अग बने रहने तक ही सीमित नही करते, वे 'एक शून्य मे छटपटाते हुए उद्देश्य' के रूप मे 'अँधेरे के मेघो' के बीच स्थापित देखते हैं। वे 'जीवन के जगल' मे

अनुभव के नये-नये गिरियो के ढालो पर
वेदना झरने के
पहली बार देखे से जलतल मे

ज्ञानमणि की तलाश करते रहते है। वे 'प्राणजल प्रपात मे', 'प्रतिपल धुलते' विचारो की 'रक्तिम अग्नि के' मणियो के ग्राहक है। इसी चैतन्य की तीखी पुकार है :—

ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्यों जिया ?
उदरम्भरि बन अनात्म बन गये,
भूलों की शादी मे कनात-से तन गये,
किसी व्यभिचारी के बँध गये बिस्तर,
दुःखों के दागों को तमगो-सा पहना,
अपने ही ख्यालो में दिनरात रहना
असग बुद्धि व अकेले मे सहना,

ज़िन्दगी निष्क्रिय बन गयी तलघर।

मुक्तिबोध मसीही चेतना के कवि नहीं हैं, दुःख उनके लिये प्रमावन नहीं, जीवन है। वे दु:ख के सहारे नहीं, दु:ख में जीनेवाले कवि हैं। दु:ख भी उनके लिये सत्य है, इसलिये कि इस दु:ख को समझने वाले वे अकेले चाहे हों, भोगने वाले अकेले नहीं है। यह मार्क्सीय बोध हो भी, मार्क्सवादी तो कम-से-कम नहीं है, क्योंकि मार्क्सवादेतर चिन्तन का भी यह उतना ही अंग हैं; जितना मार्क्सवादी चिन्तन का। बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य भी यही है। मसीही तटस्थ दु:खवादी दर्शन से मुक्तिबोध को बहुत तीव्र असंतोष है:—

दुनिया न कचरे का ढेर जिस पर—
दानों को चुगने चढ़ा कोई भी कुक्कुट,
कोई भी मुरगा—
यदि बाँग दे जोरदार,
बन जाये मसीहा।

उनका दु:ख का बोध जितना ही गहरा है, उतना ही व्यापक है। उनके पैर, 'धरती का फैलाव' महसूस करते हैं। उनका मस्तक 'आकाश अनुभव' करता है, उनके दिल मे तड़पता है, 'अँधेरे का अन्दाज़', उनकी 'आँखे तथ्य को सूंघती-सी लगती' हैं, यह सब इसलिये कि उनकी

आत्मा में भीषण
सत् चित् वेदना जल उठी, दहक उठी

है। उनकी वेदना केवल दु:ख की साझीदार नहीं, दु:ख के कारण की भी साझीदार है। वे दु:ख झेलकर दु:ख के दायित्व से छुटकारा नहीं चाहते, दु:ख देनेवाली सत्ता का पाप-फल भी भोगने के लिये तैयार हैं, उनका दु:ख-बोध अपनी दम्युरूप आकृति' को स्वीकार करके ही पूर्ण होता है, इस आकृति की निर्मात्री 'सामजस्यों की दुष्ट व्यवस्था' की जानकारी करा के समग्र होती है, इसीलिये तो वे 'अकेले मुक्ति' के अभ्यर्थी नहीं, क्योंकि वे सबके बन्धन के सहकारण हैं। और इसी से वे जलने मे नहीं 'कटने और टूटने' मे, टूटकर विस्फोट शब्द के रूप के 'सबकी कहानी' बनने मे जीवन की सार्थता मानते

हैं। मुक्तिबोध के काव्य मे जो बात आज की खंडित चेतनावादी मनोवृत्ति को आलोकित कर देती है, वह है विराटता से सम्पृक्तता। वे 'तिमिर मे झरते हुए समय को' और 'उसके गिर रहे एक-एक कण से चिनगियो का दल' देखते-देखते अभ्यस्त हो गये है। उनके 'अनाकार कधे', 'सुनील शून्य' को वहन करते-करते कडे हो गये हैं। उनकी भुजाओ मे 'आसमानी शमशीरें' शक्ति बन कर बस गयी है। वे 'अगम अथाह की वर्जित सिन्धुयात्रा' कर चुके है, वे 'अपाहिज पूर्णताओ' को तोड चुके है। उनके काव्य मे बार-बार दिक्काल मूर्त-रशि बन कर आते है। वे दिक्काल की महिमामयी चेतना से 'तडित् का उजाला' निरन्तर फैलाते रहते है।। उनके विराट् बोध के आगे 'अम्बर के हाथ-पैर फूलने लगते है' 'काल की जडे सूजने' लगती है। यह मध्य प्रदेश के पठारी जगलो के कवि का सहज बोध है। ऐतिहासिक खँडहरो के बियाबानो मे रमनेवाले मन की निर्भय पुकार है। 'कवि की साँझ और कवि की रात, 'सुबह और दिन' 'उठते-गिरते हुए दिगवकाश जल में' 'नहाते ही रहते हैं। इसीलिये जब कवि 'सकर्मक सत्-चित्-वेदना भास्कर' रूपी नये-नये सहचर ढूँढता है तो कुछ भी अस्वाभाविक या अप्रत्याशित नही लगता। पर यह समझना भूल होगी कि मुक्तिबोध का जिप्सीभाव, स्वप्नयात्री रूप और बादलो का तरह कामचारी क्रीड़ा-वृत्ति, अपने आप मे साध्य हैं। यदि ऐसा होता तो उनकी कविता तमाशा बनकर रह जाती और बौद्धिक चमत्कार पैदा करके रह जाती। वस्तुतः ये सारी की सारी चीज़े उनकी वेदना की राह चलती उपलब्धियाँ है, कवि ने इन्हें चाहा नहीं, माँगा नही, यहाँ तक कि कई जगह इन्हे ठुकराया भी, तिरस्कार किया, पर ये राह मे पड़ी थी, कवि ने इनको छुआ, हाथ मे लिया और आगे बढा। उसने अपने को जग मे नही, जग को अपने मे 'खपाया'। इसलिये उसने 'अपने ज़िन्दा सत्यो का गला बचाने को' अपना अनुभव छिपा-कर नही रखा। वे 'चक्करदार ज़ीनो पर चलने से' जो 'छलछल धन' मिलता है उसके आकांक्षीन तो नही थे, वे अपनी जान 'सीधी-साधी पटरी-पटरी पर दौडे'। वे मानव-परम्परा को वहन करने की पीडा झेलकर स्वय परम्परा की देवमूर्ति बनते है और फिर 'बीडी की तलब' पर डंस 'गौरव की ऐसी-ऐसी

करने लगते हैं। यह फकीरी भाव भारतीय किसान की निरभिमान त्यागवृत्ति ही है और भारतीय विचारक की सामान्य से यह तादात्म्य-बुद्धि ही मुक्तिबोध की कारयित्री प्रतिभा की उपादान सामग्री है। मुक्तिबोध का काव्य इसीलिये सत्-चिद् का आनन्द नही, सत्-चिद् की वेदना है, वह ऐसा नरकाव्य है, जिसमें नारायण की आँखो की व्यथा भरी है।

मुक्तिबोध की वेदना सत्-चिद् की भूमिका पर अधिष्ठित है सही, पर वह नकली नही है। यह वेदना बड़ी व्यापक है पर साथ ही बडी गहरी, इसके लिये कवि 'सारे के सारे खतरे उठाने के' लिये तैयार है, उसका काम 'रंगीन पत्थर फूलो' से चलनेवाला नही। वे अपनी इस वेदना के अकेलेपन को समझते हैं पर घबराते नही, इसलिये कि उन्हे लगता है कि—

जितना मैं लोगो की पाँतो को पार कर,
बढता हूँ आगे,
उतना ही पीछे मैं रहता हूँ अकेला,
पश्चात् पद हूँ,
मेरे ही विक्षोभ-मणियों को लिये वे—
मेरे ही विवेक-रत्नो को लेकर—
बढ रहें लोग अँधेरे मे सोत्साह,
किन्तु मैं अकेला।

वे 'बौद्धिक जुगाली मे' 'अपने से दुकेले' बन लेते हैं। वे अकेलेपन को सार्थक पाते हैं 'मानने और मनवाने' के आग्रह मे। उनकी वेदना कुंठा नही है, विफलता नही है, उनकी वेदना परिणति है। वे 'वर्त्तमान समाज में चल नहीं सकते' की व्यथा को झेलकर 'किराये के विचारों के उवास से और नपुंसक श्रद्धा की गटर मे छिपनेवाली त्रास-भावना से गुज़रकर', 'अर्थो की वेदना' के घावों के आस-पास 'आत्मा में चमकीली प्यास' भरनेवाले कवि हैं। उनका

तडित्तरंगीय वही गतिमयता,
अत्यन्त उद्विग्न ज्ञान तनाव वह—
सकर्मक प्रेम की वह अतिशयता,

वही फटेहाल रूप !!

है। वह मध्ययुगीन सत के सत्य की तरह ही भारतीत सत्य का एक अनछुआ पहलू है। कवि की वेदना का साकार रूप है वह 'स्याह पहाड़' जिसकी देह पर—

जिन्दगी के भयकर स्वप्नो के मेह,

रहते तैरते, मसानी आसमानी मे।

पर यही पहाड जब 'सब जगो की विशेषताएँ उधार लेता' है, तब 'भयभीत आँखो के हसो' और 'घावभरे कबूतरो' की सुधि करता है। 'एक की शिवरी लाल-लाल जलती हुई ढिबरी' और अपने प्यारे देश के 'लाल-लाल सुनहले आवेश' की स्मृति की आग मे पिघलता है तो कवि की हथेली पर 'अग्नि-विवेक की आग' बन जाती है, उस आग मे से 'ज्वलत सरसिज' पैदा हो जाता है 'भीतर से गीला, पक से आवृत और स्वय मे घनीभूत' और तब कवि को 'तेरी' बिलकुल जरूरत नही रहती है।

कवि की यह वेदना 'मानव-न्याय-संवेदन' है जो 'हृदय मे प्राकृतिक' रूप मे दहक रही है, यह मन और आत्मा के चकमक पत्थर को रगड़कर आग पैदा करती है, 'जीवन-स्वप्न चमकाती है' और 'ज्ञान तडपाती है'। इस वेदना ने कवि को 'व्यक्तित्वांतरित' कर दिया है और दूसरी 'अधूरी दीर्घ कविता' को 'आवेग-त्वरित कालयात्री' तथा 'आगमिष्यत् की गहन गभीर छाया' बना डाला है। यह वेदना विद्यापति की वेदना की तरह सजीव है—

'दुँहु दिसि दारु दहन जइसे दगधइ आकुल कीट परान्।'

यह वेदना 'नत होकर उन्नत होने की बेचैनी' है। इस वेदना के जहाज पर ही ( इस 'क्षोभ विद्रोही सगीत विरोध' के साहसी समाज पर ही ) आरूढ होकर 'कवि भीतर व बाहर के पूरे दलिद्दर से, मुक्ति की तलाश मे चलता रहा और उसने 'आगामी कल' को 'आगत आज' के रूप मे पा लिया। कवि की यह वेदना आत्मदान की व्यर्थता की नही, आत्मदान की अयथेष्टता की वेदना है—

जितना भी किया गया,

उससे ज्यादा कर सकते थे,

ज्यादा कर सकते थे।

इसको समझने के लिये हिन्दी की उस काव्य-सम्पदा का बोध होना चाहिए, जिसने 'अपना घर जला कर हाथ मे लाठी ली है,' जिसने श्मशान मे शिव को जगाया है और जिसने दोनो जहाँ के ऐश को खाक मे मिलाया है। मुक्तिबोध उस श्यामाचला हिन्दी के हाथ मे सद्-चिद्-वेदना के अँधेरे मे चमकनेवाले फूल हैं। वे स्वयं श्रद्धाजलि है। इस देश के कृतित्व को अनत के प्रवाह मे, उन्हे शब्दो से श्रद्धाजलि कैसी दी जाये? और शब्द भी तो मुझे अपने नही मिले, उन्ही के शब्दो से उनको यह श्रद्धाजलि।

———

# स्वाधीनता की भारतीय परिकल्पना

'तथागत के करुणामय मुख-कमल से उनके हृदय का यह उद्गार निकला तुम्हारे विशाल और जन-सकुल प्राच्य देश मे लोभ, हत्या, लोलुपता और असत्य का राज्य बहुत दिनो से चला आ रहा है। बुद्ध की शिक्षाओ के लिये तुम्हारे यहाँ कोई आदर नही है। अच्छे कार्यो की ओर कोई रुझान नही है। तुम्हारे लोगो के पापो का कोप इतना परिपूर्ण तथा विपुल है कि वे अनन्त काल के लिये नरक के गर्त मे पडते जा रहे है, तोप की गोली के रूप मे परिणत करने के लिये पोसे जा रहे है, कुछ पशु का आकार ग्रहण कर रहे है—सीग-दार और रोयेदार पशु का रूप ग्रहण कर रहे है। जिन पशुओ का मास उन्होने खाया था, उन पशुओ का रूप धारण करके वे ही मनुष्यो के भोजन बन रहे है। कनफ्यूसियस ने उन्हे सद्गुण सिखाना चाहा, एक शासक के बाद दूसरे शासक ने नये-नये दण्ड और नयी-नयी यातनाओ से उन्हे ठीक करना चाहा, पर कोई भी कानून उनके नैतिक पतन को रोक नही सका, कोई भी किरण उनके अन्धकार को छेद न सकी।'

यह उद्धरण 'ऊ चेग-येन' के 'वानर' नामक उपन्यास से लिया गया है, जिसकी रचना १६ वी शती के अन्त मे हुई थी और ऊपर उद्धृत उद्धरण चीन के लोगो के बारे मे है। ह्वेन साग को दैवी प्रेरणा हुई कि वह इस पतनोन्मुख समाज की रक्षा के लिये भारत जाये और वहाँ से त्रिपिटक लाकर इसका उद्धार करे। 'ऊ चेग-येन' का उपन्यास ह्वेन साग ( श्वान् च्वाग ) की यात्रा की कहानी है। भारत और चीन की विचारधाराओ के संघर्ष के संदर्भ मे यह उद्धरण बहुत महत्त्व रखता है। चीन और भारत की मैत्री की बात जिन लोगो

ने की है, उन लोगो ने एक चीज़ ध्यान में नही रखी, चीन ने भारत से कुछ ग्रहण किया, उसे अपनी प्रकृति मे ढाला, पर चीनांशुक और चाय इन दो को छोडकर भारत को उसने कुछ दिया नही। चीन ने इस ग्रहण को करद राज्य की भेट के रूप मे स्वीकार किया, क्योकि उसकी सनातन व्यवस्था स्वर्ग और और पृथ्वी के बीच किसी चीज को स्वीकार नही करती रही है, या तो ऊँचा है, या नीचा। बराबर भी कोई चीज़ हो सकती है—यह उस व्यवस्था को स्वीकार नहीं है। यही कारण है कि चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार हिन्दुस्तान से जोड़ने के लिये सूत्र नही बना, बल्कि चीन की निषेधात्मक विचारधारा को सारे ससार से विलग करने के लिये एक उपयोगी माध्यम बना। एक चीनी दार्शनिक 'फुग यू लान' ने 'चीनी दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि बौद्ध दर्शन के अत्यधिक प्रसार का कारण 'ताओ-दर्शन' से इसका साधर्म्य है। यहाँ तक कि 'यू' और 'वू धर्मो को,' जो वस्तु के भाव और अभाव के द्योतक हैं, ज्यो का त्यो स्वीकार किया गया, क्योकि शून्यवाद के अस्ति और नास्ति के दोहरेपन के लिये इसमे आधार मिला। जिसको 'ताओ-धर्म' मे प्रतिरोध का प्रतिषेध या पूर्ण आत्म विस्मृति कहा जाता है, वह बौद्ध निर्वाण के समीप है, जिसमे कोई कोटि स्थापित नही की जा सकती।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत मे दर्शन की निषेधमुखी धारा केवल शास्त्र की परिधि के बाहर जीवन मे पूरी तरह नही उतरी, क्योंकि भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार था, विश्वसत्ता से तादात्म्य का, जगत् या व्यक्ति का नकार नही। यही कारण था कि महायान-धर्म की परिणति वज्रयान मे हुई, जिसमे शून्य का स्थान सहज ने और प्रज्ञा का वज्र ने ले लिया। इसीलिये कालान्तर मे बौद्ध-धर्म व्यापक भारतीय धर्म मे विलय को प्राप्त हो गया।

प्रश्न यह है कि क्या भारत और चीन की विचारधाराओ मे कोई साम्य है। अमरीका मे चीन को सुदूर-प्राच्य देश माना जाता है, अरब देशो को मध्य प्राच्य, पर भारत को इन दोनो के अन्तर्गत नही रखा जाता है। भारत की

सज्ञा दक्षिणी एशिया है। मजे की बात यह है कि चीन का बन्द घेरा पश्चिम के लिये जितना रहस्यमय है, उतना भारत नहीं, पर व्यवहार मे चीन जितना पश्चिममय है, उतना भारत नही। मुझसे अमरीका मे दो-तीन बार यह प्रश्न पूछा गया, क्या बात है भारत ने पश्चिमी प्रगति के तौर-तरीको को पूरी तरह से नही अपनाया, जबकि चीन ऐसे प्राचीन देश ने अपना लिया और अपनाकर ही वह शक्तिशाली बन गया ? यह सचमुच ही नयी सस्कृति का और बौद्धिकता का दम्भ करनेवालो के लिये रहस्यमय पहेली है। वे चीन-भारत-सघर्ष से इसलिये प्रसन्न है कि वह भारत को पश्चिम का और अधिक आश्रित बना देगा, पर वे भारत और चीन का इतिहास भूल जाते है। चीन सदा से अभ्यस्त रहा है एकाधिकार के शासन का। वहाँ सम्राट् साक्षात् परमेश्वर माना जाता रहा है, इसीलिये कुबलाखाँ बाहर से आकर भी चीन मे बोधिसत्त्व बन सका, मिग साम्राज्य के पतन के बाद मचू साम्राज्य स्थापित हुआ, ये मचू भी बाहर से आये और चीन मे नये देवता बन गये। दक्षिणी चीन से नयी शक्ति के रूप मे उठा हुआ 'माओत्से तुग' भी इसी परम्परा मे नया देवता बना है। इसके विपरीत भारतवर्ष मे राजा शासक था, नियामक कभी नही था, नियामक थी पुराण प्रकृति। चीन मे इसलिये राजनैतिक रिक्तता के साथ-साथ सांस्कृतिक रिक्तता आयी है, पर भारत मे राजनैतिक दासता मे भी सास्कृतिक चेतना अक्षुण्ण बनी रही है। सास्कृतिक दृष्टि से भारत मे रिक्तता कभी नही आयी। थोडी-बहुत आयी है, तो स्वाधीनता के १० वर्षो के बाद। चीन का इतिहास रीतने और भरने का इतिहास है, उसमे निरन्तरता केवल इस माने मे है कि चीन की जनता ने सदैव सत्ता को स्वीकारा है और सत्ता सदैव कुछ लोगो मे केन्द्रित रही है। सत्ता का केन्द्र बदला है, सत्ता नही बदली है और न बदली है उसकी निर्ममता, निरकुशता और विश्व-निरपेक्षता।

चीन के इतिहास ने पिछली शताब्दी से लेकर तब तक कई उलट-फेर देखे है। मचू–साम्राज्य का पतन देखा है, अफीम-युद्ध देखा है, बक्सर-क्रान्ति देखी है, क्रान्ति मे ईसाई मिशनरियो का वध देखा है, पश्चिमी उपनिवेशवाद की लूट-खसोट देखी है और देखा है कुओमिन्ताग, और दक्षिणी साम्यवादियो

का समझौता तथा इस समझौते का टूटना । चीन के इतिहास का सारा बोझ टिकाऊ कागजो पर गहरी काली रोशनाई मे अमिट अक्षरो मे अंकित रहता है । वह पश्चिम की सस्कृति से जितना ही भिन्न है, उतना ही अभिन्न, क्योंकि वह भी साध्य की चिन्ता नही करता, साधन की करता है । पश्चिम का साध्य जरूर भिन्न है, पर साधन रूप मे जिस मनुष्य के निरपेक्ष यन्त्रवाद को उसने स्वीकारा है, वह चीन ने भी अपना लिया है । चीन के दर्शन का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो चीज़े अच्छी लगती है, उन पर विश्वास नही किया जा सकता, जिन पर विश्वास किया जा सकता है, वे अच्छी नही लगती । इसी नियम को मान-कर चीनी विश्वास तो करता है मानववाद मे, पर उससे प्रेम नही करता और प्रेम करता है वह विस्तारवाद से, पर कहता है, इसमे उसे विश्वास नही । भारतवर्ष वर्तमान समय मे चीनी की ही तरह है, वह प्रेम करता है मानवी आदर्शो से और विश्वास करता है औद्योगिक प्रगति मे, वह प्रेम करता है समझौते से और विश्वास करता है युद्ध मे । पर एक अन्तर है कि चीन झूठे आदर्शो को सच्चाई से जी रहा है और भारत सच्चे आदर्शो को झुठला रहा है । चीन मे इसीलिये गलत नेतृत्व भी शक्तिशाली है और भारत मे सही नेतृत्व शिथिल । सघर्ष विचारधारा का ही नही, विचारधारा के साथ तादात्म्य की मात्रा मे भी है ।

ईमानदारी से सोचने की बात है कि हममे से कितने लोग है जो भारत-माता की जय बोलते हुए भी कर्मपरायण है, जिसकी जय बोलते हैं उसकी महिमा का स्मरण और ध्यान आवश्यक है, पर लक्ष्मणसेन के दरबारी पडितो का विश्वास बख्तियार खिलजी को रोक नही सका और पूरा बगाल मुट्ठी भर सैनिको ने रौद डाला । यह सही है कि हम उतने क्रूर, अमानवीय और न्यायनिरपेक्ष नही बन सकते, हमे बनना भी नही चाहिए, पर हमको अपने शीशमहल मे उतरना भी चाहिए । चीन से सघर्ष है, इसको यह कह करके टालना कि यह चीन के नेताओ से सघर्ष है बहुत बडी भूल है, क्योकि चीन की जनता चीन के नेताओ से भिन्न नही है । हाँ भारत की जनता को पूर्णतः उसके नेताओ से एकाकार करने की कल्पना करना जरूर इतिहास के अब तक

के मोड़ के प्रतिकूल होगा, क्योकि भारत की जनता सदैव कुछ आदर्शो के प्रति अर्पित रही है, नेताओ के प्रति नही। इसलिये यदि भारत को एक करना है तो उन आदर्शो को प्रखर करना होगा। उन्हे आकाश-गगा की तरह दुग्ध-धवल, शीतल और दूर रखकर जनता को उन्मुख नही किया जा सकता। आदर्श को सूर्य की तरह तपाना होगा। दिन के प्रकाश मे रहने का अभ्यास करना होगा। यह समय है आदर्शो की प्राथमिकता के ऊपर निर्णय लेने का, देश का सम्मान ऊपर है कि शान्ति, घर की, अपनी स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ऊपर है कि पडोसी के साथ अभिसार मे किया गया वादा, सविधान की मर्यादा ऊपर है या व्यक्ति का आश्वासन, अपना चुननेवालो के प्रति नैतिक दायित्व ऊपर है या अपनी खामख्याली की विश्व-बन्धुता ? निर्णय लेना सहज नही है, क्योकि हमारे स्वाधीन राष्ट्र के सगठन की कई परते है। पर यह निर्णय अब टाला नही जा सकता।

निर्णय टालने का अर्थ होगा भारतीय सामाजिक रचना को विशृंखल बन जाने की पूरी छूट, भारतीय एकता की कल्पना को शाब्दिक रह जाने की लाचारी और निर्लज्जता को सम्मान का पर्याय बना देने की आशका। विदेशी आक्रमण भारतवर्ष मे कई बार हुए और भारत की सास्कृतिक अखण्डता इन आक्रमणो से टूटी नही, पर आज उसके भी टूटने का भय है, क्योकि हमारे सामने उसका कोई चित्र ही नही है। हम इतने निरजन, शून्य और निर्गुण हो गये है कि भारतीय सस्कृति का अर्थ चाहे तो सब कुछ ले ले, चाहे तो कुछ भी न ले। आज तक हम पश्चिम की सास्कृतिक दासता से बचे रहे, उसका कारण यह था कि हम अपने स्वाधीनता के युद्ध मे गीता से प्रेरित हुए और हमने राजनैतिक पराधीनता से सघर्ष को आध्यात्मिक साधना के विरोध मे खडा नही देखा। हमने यदि वसुधा को कुटुम्ब के प्रति लगाव होने के कारण और यदि विश्व सस्कृति से अपने को जोडा तो अपनी सस्कृति का अभिमान खोकर नही। जब मै सास्कृतिक आत्मबोध की बात करता हूँ तो मेरे सामने अपनी सस्कृति का झूठा अभिमान आदर्श के रूप मे नही है और न मैं विश्व के समस्त ज्ञान को और समस्त सास्कृतिक उपलब्धि को भारत की प्रसादी ही

मानता हूँ। मै इसमे भी भारत की शान नही समझता कि वह दुनिया मे सब से अकेला है। मैं सिर्फ यह जानता हूँ कि हम बौद्धिक धरातल पर पश्चिम की संस्कृति के साथ है जरूर और निश्चित रूप से अरबी या चीनी संस्कृति से इस धरातल पर विलग, क्योकि हम प्रत्येक व्यक्ति की अच्छी संभावना में विश्वास करते है और उसकी सभावना के विकास मे समुचित अवसर देने वाले समाज मे विश्वास करते है।

भावना के धरातल पर हम पश्चिम से विलग है, क्योकि हम अपनी मुक्ति के लिये उद्धारकर्ता स्वय है। अपने से इतर उद्धारकर्ता मे हमारी आस्था नही है। चीन की सस्कृति से हम इन दोनो धरातलो पर विलग है, केवल बाह्याचार के धरातल पर हमारी एक समानता है, चीन की संस्कृति 'लि' में विश्वास करती है, हम 'ऋत' या धर्म मे विश्वास करते हैं। हम दोनों व्यवस्थाओ को सहज उत्पन्न शक्ति के रूप मे मानते हैं। हाँ, यह जरूर है कि चीन मे प्रत्येक व्यवस्था मे 'लि' अपने को ढाल लेता है, जब कि हमारे यहाँ प्रत्येक व्यवस्था ही 'ऋत' के चक्र मे ढल जाती है। भारत जिन नदियो और पहाड़ो का पुज है, वे दुहरी सार्थकता रखते है, उनके साथ हमारे कुछ सस्कार है। उन संस्कारों से उन्हे विलग कर दिया जाये तो वे निर्जीव और निरर्थक हो जाते हैं। हिमालय देवात्मा है, गगा देव-नदी, और देव का अर्थ है स्वय प्रकाशित होने वाला, दीप्तिमान् उन्नयन की ओर उन्मुख आदर्श-पुंज। हमारा विश्वास यह स्पष्ट हो जाना चाहिए--मरण मे नही है आहुति मे है, निर्वाणोन्मुख दीप मे नही है, हविष् से धधकनेवाली ज्वाला मे है, हमारा विश्वास एक नारायण के इशारे पर नाचनेवाली नरराशि मे नही है, एक-एक नर की साधना पर उतरने वाले नारायण मे है। हम शिव की तरह असुरो को भी वरदान दे सकते है, पर देवत्व की रक्षा के लिये त्रिपुर का सहार कर सकते है, पारिवारिक आदर्श की रक्षा के लिये जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा का भी शिरच्छेद कर सकते है। बुद्धत्व का आदर्श भी जो हमने अशत स्वीकार किया, वह इसलिये कि बुद्ध ने मार के ऊपर विजय पायी, बुद्ध ने दु ख का निदान किया और लोक को सम्यक् आचरण की शिक्षा दी। वैसे हमारे आदर्श हमेशा चक्रपाणि, धनुर्धर, परशुधर और हलधर

ही रहे है। चीन ने पश्चिम के विधि-दर्शनो को साध्य के रूप मे नही साधन के रूप मे स्वीकार किया है, उसका साध्य तो निपेध है। आज का सकट चीन से अधिक इस निपेध का सामना करने का सकट है। हम अपनी स्थापना तभी कर सकते है, जब इस निपेध का निपेध कर ले। हो सकता है कि हममे से जो लोग उदार है, वे चीनी चित्रकला, चीनी रसोई और चीनी कविता के निषेध के लिये तैयार न हो, और न तैयार हो चीनी जनता के विरोध के लिये ही, पर मै समझता हूँ कि हमे चीन को उसकी समग्रता मे देखना होगा और यह भी निर्णय लेना होगा कि क्या हम भी चीन को देखा-देखी यन्त्रमुखी होकर ही स्वाधीन रह सकते है?

मै समझता हूँ कि अपने स्वरूप की पहचान अपनी मुक्ति का सबसे बडा साधन है और इसीलिये मै चीन की विचारधारा के साथ अपने विरोध को पश्चिमी विचारधारा के विरोध या मेल से जोड करके रखना चाहता हूँ। चीन को यह सहूलियत है कि वह अपने को सबसे विलग करके रख सकता है, पर हमे सबमे सम्पृक्त होते हुए भी अपना अलग स्वरूप कायम रखना है। यदि हम ऐसा नही करते तो चीन की सबसे बड़ी विजय यही होगी। एक विजय उसकी हो चुकी, हमने अग्रेजी मे अपने को बाँध लिया, आगे भी इसके लिये कुफल हो सकते है, इसीलिये फिर से अपने को जाँचने का वक्त आ गया है और अपने धुँधले विश्वासो को छाँट करके अलग करने का वक़्त आ गया, है और वक्त आ गया है इस धुंधलके को कायम रखनेवाले मुट्ठी भर सस्कृति-शून्य अन्धे और बहरे वर्षधरो (ख्वाजासराओ) की सत्ता को नकारने का। समय आ गया है कि हमारी स्वाधीनता की परिकल्पना उस चीनी परिकल्पना से विलग हो, जो मानती है कि बन्धन और मुक्ति मे वही अन्तर है, जो रेशम के कीडो और मकडो मे है। रेशम का कीडा कोष बुनता है और स्वय उसमे बन्दी हो जाता है, मकडी जाल तानती है और उससे अलग रहने के कारण मुक्त है। न तो हमे अपने-अपने रेशमी कोप के कारागार मे बँधना है और न मकडी की स्वतत्रता की कामना करनी है।

———

# नयी कविता का सही चेहरा

नयी कविता की परिभाषा ठीक-ठीक तब तक नही की जा सकती, जब तक इसका सही-सही विवेक न हो जाए कि कौन-सी नकली नयी कविता है और कौन सही मानी मे कविता है। 'नयी कविता' यह नाम कुछ भ्रामक जरूर है पर प्रयोग के बाद बन जाने पर यही नाम कुछ सुविधाजनक प्रतीत हुआ। वैसे, इस नयी विशेषता की सार्थकता केवल इतनी है कि इस कविता-धारा ने काव्य-गत प्रतिमानो का पुनर्नवीनीकरण किया है। कुछ हद तक, इसीलिये, जितनी यह नयी है, उतनी ही पुरानी भी। स्वाधीनता के बाद इस भाव-धारा का अधिक विकास भी इस बात का द्योतक है कि इसके पीछे न केवल देश का, बल्कि काल का भी एक अखण्ड-बोध है। अपनी जमीन पर खडे होने का अडिग विश्वास है और विश्व के साथ सामजस्य होने का गहन दायित्व है। छायावाद एक रीतिविरोधी इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया मे प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार वह एक प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया था और, इसी कारण, वह अपने ही पोषको के द्वारा धारा मे विसर्जित कर दिया गया। उसने कुछ गन्ध दिया, कुछ रग दिया, पर वह धारा इतनी अधिक अध्यारोपित धारा थी कि वह कोई आकार ग्रहण न कर सकी। उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे नही, बल्कि उसके रिक्त अवकाश को भरने की विवशता से ही कविता नयी धारा की ओर अग्रसर हुई। यदि भाषा को कुछ घिसे बिम्बो, शब्द की कुछ रुनझुनो और विषय को अरूप और अप्राप्य की मर्यादाओ से मुक्त करने के प्रयास को प्रतिक्रिया कोई कहना चाहे तो नयी कविता को भी कोई प्रतिक्रिया मान ले, मुझे आपत्ति न होगी। नयी कविता एक सहज विकास के क्रम मे है और यद्यपि प्रत्येक ऐसी कविता का उस कविता से प्रत्येक युग मे संघर्ष रहा है, जो लीक से बँधी होने के कारण दुर्वह हो चुकी है। नयी कविता का संघर्ष अपनी पूर्ववर्ती कविता

से प्राय नही के बराबर है, क्योंकि उसका प्रारम्भ ही एक ऐसी रिक्तता से हुआ है जिसे पूर्ववर्ती कविता छोड गयी थी। नयी कविता के ऊपर बाहरी प्रभाव नये कवियो की दीक्षा और संस्कार के अनुपात मे है। जिन लोगो ने आलोचना के नाम पर कबीर का रहस्यवाद, और कविता के नाम पर खडी बोली का काव्य-सकलन पढा था, वे हरेक प्रभाव मे पडे और उनके लिये हर जगह अभिभूत करने वाली नवीनता ही नवीनता मिली। जिन लोगो ने अनुभव के रस को स्वय नही पाया था, उनके लिये कविता निश्चय रूप से वादविवाद प्रतियोगिता बनी। जिन लोगो ने लोक सस्कृति की प्रत्यग्रता को सजावट और नुमाइश की चीज़ समझा, क्योकि उनका नागरीकरण भी अधकचरा था, उनके द्वारा नयी कविता या नयी कहानी आँचलिकता का नारा बन गयी। जिन लोगो ने लय की शक्ति के नये विस्तार को लय का विलय माना, उनके हाथो मे पड कर नयी कविता शक्तिहीन गद्य की ठठरी मात्र रह गयी। पर ये सब चेहरे नकली है।

असली चेहरे की बात करते समय पहले ही मै यह जरूर इगित कर देना चाहूँगा कि कभी कभी असली कवियो ने भी स्वाँग के लिये नकली चेहरे लगाये हैं, और यह नकली चेहरे लगाने की आवश्यकता हिन्दी के सारग्राही आलोचक के तकाजे मे उठी है क्योकि वह आलोचक असली कविता मे विशेष नही पाता, विशेष पाता है नकली कविता मे, क्योकि नकल मे सब कुछ सतह पर रहता है और इसीलिये, बहुत सुगमता से हाथ आ जाता है। तो असली नयी कविता के लक्षण पर आऊं। इसकी पहली विशेषता है जीवन के आस्वादन मे विश्वास। यह विश्वास कविता के लिये नया नही है। कालिदास ने इस विश्वास के प्रतीक के रूप मे आम्र-मजरी अपने काव्य के द्वार पर टाँगी है। ब्राउनिग मे भी यही उत्साह है जब वे कहते है—

'मै बना हूँ जीवन की सघनता से
चैतन्य की विशदता से
अपने धर्मो मे, रागो से, द्वेषो से
सवेदन और क्षमता से विविक्त अन्त करण से,. .

पर मुझमे ही जुडी है एक ऐसी विकलता
जो भर देना चाहती है सब कुछ,
पर लेना चाहती है सब कुछ
समस्त ऐन्द्रियता मे,
वही मैं हूँ ।'

नयी कविता मे अपने को 'सेतु के रूप मे' देखते हुए भी, 'नारायण की आँखो की व्यथा' अपनी आँखो मे ले लेने का दुस्साहस, इस जिजीविषा का प्रमाण है । चूँकि इस सघनता की अभिव्यक्ति व्यक्ति मे ही सम्भव है, इसलिये किसी हीरो या मुख्य नायक के निर्माण के लिये या किसी अपरूप अनुभाव्य साँचे के लिये मिट्टी का लोदा बनने के लिये भी नही है, इसलिये व्यक्ति का उपयोग भी नही है । पर इसका अर्थ यह नही है कि कविता मे अह का विस्फोट हो । वस्तुत नयी कविता अनुभव की सबसे चरम कडी के रूप मे अह के विलयन का प्रकृष्ठतम माध्यम मानती है । इस माने मे प्राचीन कविता के आदर्श से वह प्रेरित है, क्योकि वे प्राचीन कवि जो 'अह' को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिये कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नही स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द साधना थी । ठीक आदर्श वही है, यह मैं मानता हूँ । 'मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नही है तो वह मेरी सीमा है ।' आत्मनेपद की तरह मनुष्य की देह को साधन-धाम चाहे न माना हो परन्तु उनका भी साध्य व्यक्तित्व के विस्तार मे अह का विलयन ही है । नये कवियो ने मनुष्य के अनुभव को सामान्य से अधिक विशेष रूप मे ग्रहण करने पर जो बल दिया है, उसी के कारण वह क्षण का आग्रही जान पड़ता है, किंतु इस क्षण के आग्रह की नियत रूप से क्षणिकता का आग्रह मानना ठीक नही है । साथ ही, इस क्षणभाव की सार्थकता सवेदनशील के लिये है, इतर के लिये नही, यह भी जानकर चलना चाहिए यह क्षण-भाव जीवन की अखडता का प्रत्याख्यान नही, समर्थन है । नयी कविता मे मृत्यु का बिम्ब जो बार-बार आया है, सार्त्रवादियों के अतिशय से ले कर ओस-बूँद की ऐसी ढरकन तक ( जो झरते-झरते हरसिंगार का फूल बन जाए ) मृत्यु जीवन की अभिव्यजक बन कर ही आती है । यह मध्यकालीन भक्त कवियो की 'सूली

की सेज' है, स्पेन के कवियो की 'अँधेरी रात' है। इसी मे से आह्लाद का जीवन के ज्वाल और आनन्द का उद्वेग होने पर सार्थकता लगती है। लोर्का ने जिस 'दूएन्दे' की बात की है और इसे अन्तस् से उद्भूत बतलाया है, वह भी यही है। वस्तुत नयी कविता मे मृत्यु का ही प्रत्याख्यान है। क्वासीमोदो की पक्तियाँ—

मैं मृत्यु के लिए तैयारी क्यो करूँ क्योंकि मैं जानता हूँ, जहाँ अथ है,
जानता हूँ इति वह सतह है,
जिस पर मेरी छाया का लुटेरा चल रहा।
मैं छाया ही नही जानता,
या अज्ञेय की पक्तियाँ—
भीतर ही भीतर झरे पत्तो के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ,
नये प्राण पाता हूँ ..

नये कवि की उस आकाक्षा को सूचित करती है जो 'वसत से अब असतुष्ट नही रह सकता' (क्वासीमोदो)

नयी कविता का दूसरा लक्षण है पार्थिव जगत् की समग्रता का ग्रहण। केवल, यह हिन्दी कविता मे इसलिये अधिक तीखा लगता है कि कुछ शताब्दियो तक पार्थिव जीवन के निपेध पर या उसके मात्र एक अश के स्वीकार पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता रहा है, उसमे जीवन रस का आचमन ओठो से नही, हाथ से किया जाता रहा है। जापानी साहित्य मे भी ऐसी ही अवस्था थी। पश्चिम के सम्पर्क ने पार्थिव जीवन की तृषा बढायी नही, स्वयं पश्चिम का दर्शन पार्थिव आनन्द है—मसीहाई दर्शन पार्थिव आनन्द को आदिम अपराध मानता है—पर पश्चिम ने दी है वह उद्योग-प्रधान सस्कृति, जिसके बधन के कसाव मे पार्थिव आनन्द और अधिक सार्थक हो जाता है। नयी कविता मे इसीलिये लालित्य की उपेक्षा है, पर सुकुमारता की नही। नयी कविता वर्ण्य विपय की सीमाओ को इसीलिये तोड सकी है। उसमे यह यह विश्वास है कि —

मेरी अन्तरात्मा को जरा ने ग्रसा नही

दादी के मोह मे कभी वह फँसी नही
मैं अपनी आवाज़ की ताकत से
कम्पित कर सकता हूँ अखिल विश्व ....
और धरती फोड कर निकलने वाले अकुर का विश्वास हे :
मुझे लगता है, मेरा 'मैं' मेरे लिये बहुत छोटा है
इतने मे मुझमे से शरीरी एकराट् बरबस निकल पडता है ।
( मायाकोव्स्की )
नयी कविता यह अनुभव करती है कि
वह नर जो नारी के देखते ही
हाथ को कँपाने और स्वर को भर्राने लगे,
अस्तित्व मे नहीं रहा ।
( जापानी कविता इसीकावा तकुबोकु )

उसे सूने न रहने की, रीते न रहने की बाँझ अनुकम्पा समाज की बोझल हो गयी है । इस तीक्ष्णता ने ही नयी कविता को नये बिम्ब दिये । प्रकृति से, किताबो की प्रकृति से नहीं, बल्कि उस प्रकृति से जो कानो को, आँखो को, त्वचा को, घ्राण को, और रसना को प्रतिक्षण छू रही है, रोजमर्रा की जिन्दगी से, शिष्टता की नकाब उतारे लोक-जीवन से, और विज्ञान के द्वारा फैलाये गये विश्व के नये आयाम से । 'ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध धाम मे धीरे-धीरे रिसना,' 'सन्नाटे मे बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती,' 'नीलाम चढ गयी भीतर की किरण' 'मानवा को भाप बनाकर सोखने वाला 'मानव का रचा हुआ सूरज' 'चिडिया के उड जाने पर पत्ती का काँपना और फिर थिर हो जाना,' अज्ञेय की कविता मे ये बिम्ब इसके सटीक उदाहरण है । दूसरे नये कवियो और अज्ञेय मे अन्तर केवल इतना है कि अज्ञेय मे पार्थिव आनन्द की सार्थकता, उसकी पार्थिवता के कारण नहीं, बल्कि उसकी आनन्दता के कारण है । वे चालू अर्थ मे अध्यात्मवादी तो नहीं है, और न है रहस्यवादी ही पर आनन्द मात्र मे जो वे पाना चाहते है वह पार्थिव- अपार्थिव दोनो एक साथ हैं । दूसरा विशेष यह है कि उनका बिम्बविधान कच्चे रेशम की स्थिति मे नहीं है, उसमे

परिष्कार भी है। इस प्रवृत्ति ने ही नयी कविता मे भारतीय अनुष्ठानो के मागलिक उपादानों को जिस सरसता से ग्रहण किया है, वैसा पूर्ववर्ती काव्य मे महज़ कवि-कर्म के वैशिष्ट्य के अभिमान मे नही किया जा सकता। दिन के आरम्भ को 'द्वार पर पड़े हल्दी रँगे पत्र' के रूप मे देखना धरती को 'सवत्सा कामधेनु' के रूप मे देखना, साँझ के बादलो को 'कपूर और सिन्दूर की गाँठ' के रूप मे देखना, 'नदियो को रँभाती हुई धेनुओ' के रूप मे देखना, 'धूप को सूप मे भरे कनक के दानो, के रूप देखना, नयी कविता की ऐसी विशेषता है, जिसे कोई अन्धा ही होगा, जो स्वदेश और अपनी सस्कृति की अभिव्यक्ति न मानेगा।

मैंने नयी कविता को अँग्रेज़ी मे काव्य १९६०-६१ रूपान्तरित करने का प्रयत्न—वर्ष मे किया। मेरे साथ कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अँग्रेजी के कुछ कवि भी थे। वस्तुत अन्तिम आकार देना उन्ही का काम था। मै मात्र माध्यम था। मैंने और मेरे मित्र कवियो ने यह अनुभव किया कि नयी कविता के विदेशी भाषा में अनुवाद की सबसे बडी कठिनाई यह है कि उसकी दृष्टि विस्तृत और मुक्त है, पर उसका दृश्य सस्कृति के वैशिष्ट्य से मुहरबन्द है। जो लोग इतना भी नही जानते कि भारतीय सस्कृति की प्रतिभा भारत-भारत चिल्लाने से या बुद्ध और गाँधी के जयघोष से या सत्य और अहिसा जैसे शब्दो की दुर्दशापूर्ण आवृत्ति से आकार नही ग्रहण करती, वह आकार ग्रहण करती है मूर्त्त अभि-व्यजनाओ से, उनके लिये नयी कविता मे अभारतीयता यदि दिखती है तो यह नयी कविता की विजय है। प्रभाव की बात, जैसे कि अज्ञेय ने कहा है, "बन्द घर मे की जा सकती है" पर खुले आकाश मे इसकी बात करना अपने को हँसी का पात्र बनाना होगा। प्रभाव यदि है, तो इतना ही है कि हमारे जीवन का कण-कण आज विश्व से कोने मे होने वाली किसी भी घटना से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। प्रभाव की इस अनिवार्यता से आँख मूँद लेना उन्ही के लिये सम्भव है जो रगो के मोह मे फँस रहे है, और उस मोह को मुक्ति का साधन मानते रहे है। नयी कविता और छायावादी कविता मे अन्तर यही है कि छायावादी कविता मे रगो का भय है, रगो की आशा है, रगो से मोह है, पर नयी कविता मे केवल रग है।

नयी कविता की तीसरी विशेषता है उसकी प्रश्नाकुलता। स्वीकृत मानों के बारे में नयी जिज्ञासा हरेक नये विचारक ने हरेक युग में की है, पर स्वीकृत मानों की स्वीकृति का जितना जीवन-व्यापी प्रभाव आज है, उतना पहले नहीं था। वे मान चाहे सदियों पुराने हों, चाहे इसी सदी के हों, उनकी परिधि दर्शन की पोथी तक सीमित नहीं रह पाती। उनका उपयोग छापे की कृपा से और औसत समझ वालों के नेतृत्व की कृपा से समूचे जीवन में होने लगता है। उस दशा में ये मान बौद्धिक चिन्तन से गहरे उतर कर संवेदन तक छूने लगते हैं। इसीलिये, आज का कवि, चाहे सशक, चाहे प्रश्नकर्ता के रूप में, चाहे उपहासकर्त्ता के रूप में, चाहे उत्तरापेक्षी शिशु के रूप में, चाहे प्रत्याख्याता के रूप में आये बिना नहीं रह सकता। मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो मूल्यों के विघटन तक नयी कविता को बाँध रखना चाहते हैं। विघटन भी यदि अपने में एक मूल्य है, तो उसको प्रश्न किये बिना नयी कविता नहीं रह सकती। यह सही है कि हिन्दी के बहुत से आलोचकों और कवियों ने मानों के बारे में बात करते या अनुभव करते समय, बहुत हद तक यही मान लिया है कि जिस रूप में वे मान पश्चिम में स्वीकृत हैं, उसी प्रकार भारत में भी। यह मान लेने के ही कारण नयी कविता में कभी-कभी ऐसा तत्त्व देखने में आ आता है, जो मँगनी का ही मुख-साज लगता है और कभी-कभी उसमें न रहते हुए भी आलोचकों द्वारा 'बीटनिक' या पराजयवादी प्रवृत्ति ढूँढ ली जाती है। जैसे किसी पीपल की जड़ में कोई मसखरा आदमी सिन्दूर पोत दे और फिर वह धीरे-धीरे ओझा-सोखा, किशोर प्रेम-ग्रस्त युवक-युवतियों के भूत उतारने जुट जाये, वैसे ही नयी कविता में भी कुछ दो-तीन सड़े-गले नारों को ले कर ढेर से आलोचक जमा हो गये हैं और उनके इर्द-गिर्द झूठे आवेश में झोंटा हिलाते कच्चे कवि और कवियत्री झूम रहे हैं। प्रश्नाकुलता का उद्देश्य मान का नकार नहीं, बल्कि मान का पुनर्मानांकन है। (मैं मूल्य शब्द का व्यवहार न करके मान का ही करना चाहता हूँ क्योंकि मूल्य का सम्बन्ध आर्थिक व्यवहार से ही अधिक है।)

पश्चिम में यह प्रश्नाकुलता अन्तःसंघर्ष और अनिश्चयजन्य आशंका से मुक्ति दिलाने वाली आस्था को फिर से पाने के लिये है। पूर्व में यह प्रश्नाकुलता

पश्चिम की दी हुई दु खवद्ध स्वाधीनता से मुक्ति दिलाने वाले स्वय वरण किये गये, ( स्व नही पर ) दूसरो के दु ख को अपनाने के लिये है। पश्चिम मे सघर्ष ऐतिहासिकता की दो व्याख्याओ मे है, मार्क्सवादी और मसीहाई। पूर्व मे सघर्ष, यह ठीक-ठीक कहे विरोध, तो सघर्ष और अ-सघर्ष मे है। पश्चिमी विचारधारा मात्र मे 'मै' के विरोध मे 'हम' है। इस विरोध का समाधान चाहे 'मैं' की प्रधानता मे ढूँढा जाये, या 'हम' की प्राचीनता मे, पूर्व मे विरोध 'मैं' और 'हम' की एकता और अनेकता मे है। कुछ कवियो मे पश्चिमी विरोध की स्थिति ही स्वीकार की गयी है। अज्ञेय के आरम्भिक कृतित्व मे भी हलके रूप से उसी विरोध का आभास है। पर नयी कविता का जो सही रूप है, उसमे 'मैं' और 'हम' के पुनराकलन ही की बात है। पूर्व की कविता में प्रश्न यह है कि क्या दोगे ? कितना दे सकते हो ? यह नही कि क्यो दोगे ? इसीलिये "व्यष्टि का अभिमान पूर्व की दृष्टि मे विश्व जन की अर्चना मे वाधक नही है।" हिन्दी की नयी कविता क्षयग्रस्त नगर मे यदि आग न भी जला सके तो कम से कम वनखण्डी मे ही आग लगा देने का उसमे जो सकल्प है, वह जितना दूसरो को जलाने के लिये है, उससे अधिक अपने को ही जलाने के लिये है। पश्चिम की तरह यान्त्रिक सभ्यता की सिरजाई समूह-सस्कृति के विरुद्ध आक्रोश नयी कविता मे भी तीव्र है, पर यह आक्रोश आदिम जीवन के अनियन्त्रित और उद्दाम आमोद-प्रमोद की ओर ले जाने वाला नही, न श्मशान मे घर बसा कर अघोरी बनाने वाला ही है, और न विकृतियो के बहाव मे डुबाने वाला ही है। यह आक्रोश सनातन लोक-जीवन की धूप को आमन्त्रित करने वाला है, ईश्वरभावित जीवन के पारावार को एक विन्दु मे छलकाने वाला है। वात्स्यायन ने इसे 'व्यवित की खोज' की संज्ञा दी है और इसका उद्देश्य पश्चिम के प्रति हमारा सही रुख अपनाना तथा पूर्व की भावना की दृष्टि से सार्थक प्रतिभा से सम्वन्ध स्थापित करना वतलाया है। इसकी अभिव्यक्ति निचले स्तर पर सफाई के रूप मे हुई है, उच्च स्तर पर आत्मिक अग्निपरीक्षा के रूप मे। इसका प्रारम्भ 'नवीन' के काव्य से ही माना जा सकता है। कहना तो यह चाहिए कि नवीन जैसी चैतन्य-दीपित-प्रतिभा नयी कविता के लिये स्पृहा की बात है।

नयी कविता की चौथी विशेषता अपनी भाव-सकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण है। नयी कविता, सबकी सब मुक्त छन्द मे नही है और जो है भी, वह भी लयबद्ध है। यदि नही है तो यह कवि की अपनी कमजोरी है। हिन्दी की गीत-शैली ने विशेष रूप से कवि सम्मेलन के आलापो की अनुवृत्ति मे शैली के लय को मन से ग्रहण करने की चीज न बना कर कठ से ग्रहण करने की चीज बना दिया और कठ भी एक ही कोण पर लोभायमान। उसने लय की विविधता की गुजाइश ही समाप्त कर दी और कवित्त-सवैया युग से कही अधिक रूढिबद्धता इस प्रेम-गीतो के उबाल ने दी। इस विषम परिस्थिति मे अपनी लोकप्रियता को दॉव पर चढा कर, नये कवियो ने लोकधुनो से लेकर प्राचीनतम सस्कृत कविता तक और हिन्दी के प्रचलित छन्दो के सन्निवेश-विनिवेश मे और यति तथा विचार के सामजस्य मे ढूंढने के अनवरत प्रयत्न किये हैं। कुछ लोगो ने कमिग्स के दृश्य गुण को भी कविता मे उतारने की कोशिश की। इन अनेक प्रकार के प्रयोगो मे सभी सफल हुए हो, ऐसी बात नही, पर इनका स्वस्थ परिणाम यह हुआ है कि नयी कविता अकेले भी पढी जा सकती है, वह सिर्फ मच के क्रन्दन की चीज नही रही। छन्द की यह परख निराला और पन्त से ही हुई है। निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और पन्त की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे लय को भाव के साथ जोड़ने का सफल प्रयत्न किया गया है। वह हिन्दी कविता मे छायावादयुगीन एक विशेष उपलब्धि कही जा सकती है। चूंकि छन्द की परख कवि के आन्तरिक लय की परख है, इसीलिये छन्द से उसकी कमजोरी और शक्ति, दोनो का अन्दाज लगाया जा सकता है। कुछ कवि हैं, जिनमे पहाडी नाले का दुर्निवार प्रवाह है, जो उनके लोकाख्यानक गीतो के सहारे उनकी अलमस्त जिन्दगी को व्यक्त करने मे तो बहुत सशक्त है, पर वही उस कवि के सशय को अभिव्यक्त करना चाहे, तो वह प्रयत्न हास्यास्पद हो जाता है। कुछ कवि है जो अपने सौन्दर्य-बोध के लिये ( विशेष करके छोटे-छोटे कॉच के टुकडो मे गृहीत सौन्दर्य-बोध के लिये ) मुख्यात है, उनकी लय मे भी ताल की लहरियो मे चढाव-उतार है। यह लय कई छोटे चित्र एक लडी को पिरो देने मे तो समर्थ रहती है, पर एक चित्र बना देने की बात जहाँ आती है, वहाँ यह

लडखडा जाती है। कुछ कवि है, जो विना ववतृता दिये नही रह सकते, इसी-लिये उनके छन्द मे एक लम्वी खीच होती है, जिसमे गुरु मात्राएँ लघु मात्राओं को आक्रान्त किये चलती है और उन्हें, जव सक्षिप्त रूप मे वात कहने के लिये लघु मात्राओं का उपयोग करना होता है, तो वे फ़र्श हो जाते है। इसी तरह उर्दू गजल की नाजुक ख़याली का उपयोग अत्यन्त सक्षिप्त विम्वो मे किया जा सकता है, पर विराट् चित्र को उपस्थित करने के लिये वह पगु सावित होती है। उदाहरण और भी जोडे जा सकते है, यहाँ इतना ही अलम् होगा कि यह विचार करने की वात है कि ध्यान से यदि नयी कविता का अध्ययन किया जाये तो छन्द के आधार पर ही नये कवियो के व्यक्तित्व की शोध की जा सकती है।

जहाँ तक भापा का सवाल है, यह मान कर चलना चाहिये कि "कला के माध्यमो मे सवसे कमजोर माध्यम भापा है। इसीलिये उसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ अधिक रहती है।" सही भापा जव सहज भापा हो, तभी वह वास्तव मे सही है। इस सहजता की साधना हम हिन्दी लेखको मे यथेष्ट नही है।" द्विवेदी युग मे भापा के वारे मे सहजता थी, व्याकरण-शुद्धि पर वल था, पर भापा के सस्कार या शव्द के सस्कार पर वल नही था। छायावाद के कुछ कवियो मे शव्द के सस्कार पर वल मिलता है, किन्तु इसके वाद, दोनो की उपेक्षा कुछ न कुछ हद तक हुई। किसी भी कविता के सामने भापा साध्य नही, सिद्ध रूप मे आती है इसलिये, नयी कविता को जो भापा मिली, उसी मे उसे नयी शक्ति डालनी थी। कुछ लोगो ने शक्ति आरोपित करनी चाही है और वे विफल रहे हे। कुछ लोगो ने सस्कृत से शक्ति ले कर डालनी चाही है लोक भापाओ से मुहावरे ले कर भापा को जीवित वनाना चाहा है और घर की भापा का सस्पर्श दे कर आत्मीयता लानी चाही है। इन लोगो मे वे तो सफल हुए है, जिन्हे पहले से ही भापा का सस्कार था, और जो भापा के साथ ही जनमे थे, उनके हाथो इन प्रयोगो की दुर्दशा ही हुई है।

ये चार परिभापाएँ नयी कविता की मर्यादा की सीमाकन करने के लिये नही, नयी कविता की पहचान के लिये हैं।

# कालिदास की शिवदृष्टि

कालिदास को लोगो ने सौन्दर्य का और सौन्दर्य के प्रेम का कवि कहा है पर यह बात केवल एकदेश मे ही सत्य है, पूर्ण सत्य नही है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की समरसता की बात निश्चय ही भारत के लिये नवीन है। वस्तुत भारतीय साहित्य की मर्यादा शिवमयता ही है। स्वय साहित्य शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी यही इगित करता है कि हित के साथ होने की भावना ही साहित्य है। कालिदास प्राचीन और नवीन भारत के कवियो मे जो अपना मूर्धन्य स्थान रखते हैं, उसका कारण कालिदास की वह समग्र शिवदृष्टि ही है। शिवदृष्टि और शिवमयता मे कोई अन्तर नही है, क्योकि बिना शिव हुए शिव-दृष्टि नही प्राप्त होती और बिना शिव हुए शिव भी नही प्राप्त होते। इसलिये शिवदृष्टि क्या है इसको समझने के लिये शिव क्या है, इसे समझना जरूरी होगा। सबसे बडी बात तो यह है कि शिव किसी अर्थ मे रूढ नही हैं। शिव की सत्ता केवल परमार्थ नही है और न है केवल प्रातिभासिक या व्यावहारिक ही। दूसरे शब्दो मे कहे तो न शिव केवल आध्यात्मिक है, न केवल भौतिक। शिव है, इसका अनुभव प्रत्येक क्षण और सृष्टि के प्रत्येक अणु को हो रहा है। जिस क्षण नही है, उस क्षण प्रत्येक अणु को उनके विरह मे वेकली भी अनुभव हो रही है और सृष्टि का प्रत्येक अवयव चाहे वह जड हो या चेतन निरन्तर उसी शिव-स्थिति को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट है। यह चेष्टा ही कालिदास ये साहिय का विषय है। कालिदास का मनुष्य सृष्टि से विच्छिन्न कोई अलग पार्थिव सत्ता नही है, वह भी सृष्टि का एक अवयव है और ऐसा अवयव है जिसके ऊपम्मे दृष्टि को समरसता या सदाशिवता या स्वतन्त्रता लाने की सबसे अधिक जि रत-

वारी है। अनेक स्थलो पर कहा गया है, कालिदास राजतन्त्र के कवि है और राजाश्रय मे पले होने के कारण वे राजाश्रय की सुख-सुविधाओ के कवि है। यह बात कितनी थोथी है, यह इसी मे प्रकट है कि मेघदूत, रघुवश, कुमारसम्भव और अभिज्ञान शकुन्तल, जो उनकी श्रेष्ठतर कृतियाँ है, चारो अपनी पृष्ठभूमि के लिये तपोवन से ही वातावरण का मुँह जोहती है। चारो मे सिद्धि का मार्ग जीवन मे तप है, विलास या उपभोग नही। फिर भी यह सही है कि उपभोग का एकदम निषेध कालिदास ने नही किया है क्योकि शिवदृष्टि का तात्पर्य है ऐसी दृष्टि से, जो वर्जन मे परे हो, जो जीवन को विधि-रूप मे स्वीकार करती हो। इसलिये शिव शम के नही, समग्रता के प्रतीक है। शमप्रधान ऋषियो के भीतर भी निगूढ रूप से तेज रहता है, यह अभिज्ञान शकुन्तल के द्वितीय अक मे इगित करते हुए कालिदास ने सिद्ध कर लिया है[1] कि वास्तविक रूप से शिव का तृतीय नेत्र ज्ञान के तेज का ही प्रतीक है और इस नेत्र के खुलने का अवसर जीवन मे बराबर न आये तो भी इसकी आवश्यकता है, क्योकि इसके विना जीवन मे अविवेक का सामना नही किया जा सकता है। शिवदृष्टि की सबसे बडी विशेषता विरूपाक्षता ही है। साधक के प्रति मृदु और बाधक के प्रति कठोर न हो तो वह दृष्टि निर्बल है। रघुवश के प्रारम्भ मे कालिदास ने उत्तम पुरुष की कल्पना इस रूप मे की है कि वह समुद्र की तरह एक ही साथ सुन्दर और भयानक होता है।[2] अपने सौन्दर्य की रत्नराशि के कारण तो आकर्षण का केन्द्र रहता है और अपने 'भीषणानां-भीषणम्' गुण के कारण वह विकर्षण का भी केन्द्र है। इसलिये कालिदास के रज प्रधान राजपुरुष भी दिग्विजय करने के अनन्तर अपनी अशेष सम्पत्ति का दान करके ही विश्वजित् यज्ञ का सम्पादन करते है और अन्त मे योग के द्वारा ही शरीर-त्याग भी, दूसरी ओर उनका सत्त्वप्रधान चरित्र भी अनुकम्पा-मृदु होते हुए भी तप के वातावरण मे असामजस्य लाने वाले के प्रति उतना ही परुष भी है। कालिदास के अभिज्ञान

---

१. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढ हि दाहात्मकमस्ति तेज.। २।७

२. अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णव.। १।१६

शकुन्तला के पाँचवें अंक में कण्व के शिष्यों ने जो दुष्यन्त को फटकार बताया है कि ऐसे विकार ऐश्वर्य के मदमत्तों में होते हैं तपोवन के निवासियों में नहीं होते,[1] वह फटकार धर्म में निगूढ तेज की ही द्योतक है। कालिदास की सबसे सौन्दर्य-पूर्ण सृष्टि है पार्वती, और सबसे अधिक तप भी उन्हीं को करना पड़ा है। एक बार सामान्य सेवा करने पर भी उन्हें सिद्धि नहीं मिलती, तब पुन अपने रूप को अवश्य बनाने के लिये उन्हें घोर तप करना पड़ा है, ऐसा तप जिसमें हिम-आतप-वर्षा किसी की भी चिन्ता नहीं रह गयी, पेड़ से गिरे पत्तों की भी आशा छोड़ दी गयी। मध्ययुग में प्रेममार्ग के कवियों में भी इसी तप की भावना को वशी ने साकार रूप में फलित देखा है, तभी सूर ने वंशी के द्वारा गोपियों से यह कहलवाया है कि हमें समझ करके उलाहना देना चाहिए कि मैं क्यों भगवान् को प्रिय हूँ। तुम्हीं सोचो कि मैंने घर-द्वार तजा, एक पैर से मैं खड़ी रही हिम-आतप और मेह सहती रही, अग्निशलाका से अपना अंग-च्छेद कराया, तब जा कर भगवान् के अधरों में स्नेह जुड़ा। तुम भी इतना तप कर सको तो यह सुख तुम्हें भी मिल जाये। वस्तुत सौन्दर्य का सबसे बड़ा धर्म है वशीकरण, जिसको संस्कृत कवियों ने सौभाग्य की संज्ञा दी है और इसी सौभाग्य को जन्मजन्मान्तर-व्यापी बनाने के लिये कालिदास की पवित्रतम नारी-प्रतिमा सीता ने यह प्रतिज्ञा ली है कि पुत्र-प्रसव करने के अनन्तर ही मैं इस संकल्प को लेकर तप करूँगी कि जन्मजन्मान्तर में राम ही पति मिलें और फिर उनसे वियोग न हो।

सौन्दर्य को निवेदनीय बनने के लिये केवल योग-साधना ही अपेक्षित है, सो बात नहीं, क्योंकि योगसाधना में केवल चित्तवृत्ति का निरोध होता है और निरोध से भी ऊपर उठ कर चित्तवृत्ति के अभिद्रवण के द्वारा चित्त के विस्तार तक यदि साधना नहीं उठती तो वह साधना अकृतकार्य रह जाती है। शकुन्तला का तो शरीर ही तप अर्थात् योगमय जीवन में पला हुआ है। उसे इसीलिये वनदेवियों का ही दुलार प्राप्त है, उसका सौन्दर्य वन के और वन के जन्तुओं

[1] मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु। ५।१८

की निस्पृह सेवा से निखरा हुआ सौन्दर्य है और कुसुम से इस आत्मीयता के कारण ही चूँकि कुसुमों के बाद पल्लव आते है, उन पल्लवों की आलंकारिक सुन्दरता से प्रीति होते हुए भी पल्लवों को वृक्ष से अलग करने के लिये उसका दिल गवाही नहीं देता। शकुन्तला की वसंत की शोभा आम्रमंजरी से स्थल-स्थल पर उपमात की गयी है। चित्त की परिष्कृति के लिये ही विरह-व्रत धारण करने के लिये विवश होती है और विरह-व्रत भी ऐसा जिसमें कि मिलन की आशा क्षीणतम हो, साथ ही पति के द्वारा परित्यक्त होने का बहुत बड़ा सामाजिक कलंक भी वहन करना हो। ऐसे कष्ट में चित्त का परिष्कार हो और साथ ही विक्षेप न हो, इसलिये उसे पुनः मारीच के तपोवन की छाया मिली है।

पर शकुन्तला वसन्त की शोभा है, जिसकी रमणीयता का परिणाम ग्रीष्म का फल-भार है, इसीलिये पहले अंक में परिणाम-रमणीय दिवसों की ओर संकेत करके कवि ने 'कुसुम जन्म ततो नवपल्लवा तदनु षट्पदकोकिल कूजितम्' में भी आगे जा कर फल-प्राप्ति की अवस्था द्योतित करायी है। जिस भरत की शकुन्तला इस तप के अनन्तर माता बनी है, वह भरत अपने प्रताप से ग्रीष्म के ही सदृश है, यह बात सूक्ष्म रूप से व्यंग्य है।

इसके विपरीत पार्वती का सौन्दर्य शरद्-ऋतु का सौन्दर्य है। पूर्व जन्म के ही तप और त्याग से निखरे हुए चित्त के कषाय से प्रक्षालित सर्वतोभावेन सुशुभ्र और प्रारम्भ से ही विवेक से युक्त बाल्यावस्था से ले कर विवाहोत्त अवस्था तक किसी न किसी बहाने से शरद् का ही स्मरण किया गया है। बाल्यावस्था में ही अपने-आप विद्याओं का आविर्भाव शरद् ऋतु में हंसों के आने से जो अनुबिम्बित किया गया है,[1] उसका तात्पर्य प्रारम्भ से ही पार्वती की शिवपात्रता दिखानी है। दूसरा प्रसंग तब आता है जब कि पार्वती को विवाह के वेदी पर जाने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। उसमें भी कवि ने पार्वती को जलाभिषेक के अनन्तर निखरी हुयी काश के फूलों से विहँसती हुई

---

१ तां हंसमालाः शरदीव गंगां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥ कु० सं० १।३०

धरती में एकाकार किया है।[1]

यह स्मित तृप्ति का स्मित है। विवाह के अनन्तर तो पार्वती की उपमा क्षीरसागर की उस वेला से दी गयी है, जो पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश में छलक उठी है।[2] इसका तात्पर्य आनन्द की पराकाष्ठा का प्रसाद जगत् को दिलाना है। पार्वती ने जो पाया है, वह पार्वती अपने में ही भर कर रख सके, ऐसा वह पदार्थ है ही नहीं। इसलिये पार्वती को उसे विश्व को अर्पित करना ही है और यही कुमारसम्भव की फल-प्राप्ति सन्निहित है।

शरद् की इस रजनी में परम सुख की कामना की बात मेघदूत में भी सूक्ष्म ढंग से संकेतित है, यद्यपि मेघदूत वर्षा-ऋतु का काव्य है। उसमें मेघदूत का कामरूप प्रकृति-पुरुष बना कर मानो इच्छाशक्ति के विलास की साकार प्रतिमा कवि ने बना डाली है। आदि से अन्त तक जिस कामना का विस्तार मेघदूत में मिलता है, वह कामना व्यापक अर्थ में संश्लेष की कामना है, मात्र एक सामान्य पुरुष की एक सामान्य नारी के साथ मिलन की कामना नहीं, यद्यपि उस रूप में भी वह कामना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मेघदूत में स्पष्ट रूप से देश के एक अवयव को दूसरे अवयव से जोड़ने की कामना है, आकाश को धरती से, नदी को वन से, वन को वन के प्राणियों से, जनपद को नगर से, लोकधर्म को शास्त्र-धर्म से, कला को उपासना से, एक देवता को दूसरे देवता से, साधना की चित्तवृत्ति को सिद्धि की चित्तवृत्ति से, मनुष्य-योनि को मनुष्येतर योनियों से और जड़ को चेतन से जोड़ने की कामना मेघदूत में वितत है। जिस विरह को मेघदूत में इतना विराट् प्रसार मिला है, वह विरह मानवीय होते हुए भी इतना ब्रह्माण्डव्यापी बन कर रहा गया है कि उस विरह के बहाने ही मनुष्य को सबसे अधिक पवित्र करने वाली चित्तवृत्ति का ही विस्तार किया

---

१. सा मंगलस्नान विशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ कु० स० ७।११

२. क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥ कु० स० ७।२६

गया है। मिलन की आशा से प्राण-धारण करने का एक और सकल्प है, दूसरी ओर वही दोनो सवादी तत्त्वों मे इस प्रकार एक दूसरे मे तल्लीन करने वाले ऐसे दारुण विश्लेष की प्रतीति है कि कल्पना मे भी मिलन का क्षण असम्भव है। यक्ष-चित्र मे अपने को अपनी प्रियतमा के समीप नही ले जा पाता [1] और यक्षिणी-सगीत मे उस यक्ष के साथ अपने को जोड कर फिर मूर्छना भूल जाती है, जिससे कि विश्लेष तीव्रतर हो जाता है ।[2]

मेघदूत मे आदि से अन्त तक इस विरह-साधना के साथ ही साथ महा-मिलन के योजक सूत्रो का सघटन है। ये सूत्र है, देश की भौगोलिक और सास्कृतिक प्रकृति के दर्शन, देश की देव शक्तियो के प्रति श्रद्धा और सौन्दर्य को मनुष्य और प्रकृति मे अविभक्त देखने का प्रयत्न। मेघदूत इच्छा-शक्ति का विस्तार होने ही के कारण कालिदास के काव्यो मे सबसे अधिक कल्पना-प्रवण है, जितने दृश्य एक के बाद एक मेघदूत के छोटे-से विस्तार मे रचे गये हैं, उतने कालिदास के महाकाव्यो मे भी नही रचे जा सके। रघुवश मे चौथे, सातवे, तेरहवे सर्ग मे, अभिज्ञान शकुन्तल मे पहले और सातवे अक मे तथा कुमार-सम्भव के पहले सर्ग मे देश के विविध भागो के चित्र रचे गये हैं, पर ये चित्र बिखरे-से हैं, परस्पर सश्लेष से ये विरहित हैं। कारण यह है कि वहाँ चित्र रखने मे अधिक चित्र रचने के पीछे चलने वाली कथावस्तु का महत्त्व है, जब कि मेघदूत मे भी चित्र-रचना मे कवि की उतनी ही प्रयोज्यता है, जितनी कथा मे।

मेघदूत में शिव और विष्णु के स्मरण भिन्न-भिन्न प्रसगो मे किये गये हैं, यक्ष का वर्तमान निवास रामगिरि है, जिसके आश्रम के सरोवर जनकतनया के स्नान से पवित्र हो चुके हैं। जनकतनया की स्मृति विरह की पवित्रतम स्मृति है। जब बादल को यक्ष सदेश दे कर विदा देने लगता है तो वह बादल को गोपाल कृष्ण के रूप मे देखता है, मानो बादल के इस रूप मे ही परमानन्द

---

१. क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम नौ कृतान्त । २० । १४ ।
२ भूयोभूय स्वयमपि कृता मूर्च्छना विस्मरन्ती । २० । १६ ।

में सायुज्य पाया जाता है। शिव के सबसे महत्त्वपूर्ण वर्णन उज्जयिनी और कैलाश के हे। जहाँ उज्जयिनी पार्थिव सिद्धि की प्रतीक है, पार्थिव सिद्धि की प्रतीक होने के कारण पार्थिव सौन्दर्य के सहज और कृत्रिम दोनो प्रकार के विभ्रमो से चमत्कृत है, वहाँ कैलाश अपार्थिव सौन्दर्य के उद्भास का प्रतीक है। एक पार्थिव सौन्दर्य के विद्युच्चचल रूप का प्रतीक है, दूसरा दैवीसौन्दर्य का दर्पण होने के कारण शिव का पुजीभूत अट्टहास है। शिव का नर्तन दोनो जगह है, उज्जयिनी मे शिव का नर्तन मृत्युंजय का नर्तन है और कैलाश मे शिव का नर्तन सदाशिव का नर्तन है। शिव और विष्णु के अलावा जिन देवताओ ने सबसे अधिक कालिदास की कल्पना को आकृष्ट किया है, उनमे स्कद का नाम सबमे आगे आता है। स्कद की यह उपासना निश्चय ही देवशक्ति-सयोजन की उपासना है, इसीलिये स्कन्द के निवास का नाम ही देवगिरि है और कदाचित् इस देवगिरि ने ही कवि को कुमारसम्भव की प्रेरणा दी है। स्कन्द का तेज सूर्य को भी अतिक्रान्त करने वाला बतलाया गया है और शिव के तेज को अग्नि के माध्यम से जो वहन कराया गया है और स्कन्द की उत्पत्ति का स्थल सरकंडे का स्थल बतलाया गया है, वह स्कन्द के लोकदैवत होने का ही एक स्पष्ट सकेत है।

शिव के साथ स्कन्द का यह योग पतजलि के समय मे ही लोक-प्रचलित हो चुका था। कालिदास के प्रत्येक काव्य मे पुत्र मे स्कन्द के गुण दीखने की लालसा मिलती है, यहाँ तक कि भरत मे स्कन्द की ही प्रतिच्छाया मिलती है, यह निश्चय ही परम्परा को तेजस्वी बनाने की कामना से निहित किया गया है। ऐसा लगता है कि कालिदास ने जिस अखड दृष्टि मे यज्ञ-विधि, उपासना, योग-साधना, विश्वात्म-चिन्तन और लोकानुग्रह कामना से कर्म के व्यापार को आकलित किया है, उस अखड दृष्टि मे कालिदास के पूर्व की भारतीय चेतना की समस्त उपलब्धि ही आकार पा सकी है। इसमे तनिक भी सदेह नही कि ऐसी अखड दृष्टि कालिदास के पहले अन्य किसी भारतीय कवि मे उस मात्रा मे नही पायी जा सकती है। कालिदास की शिवदृष्टि की सबसे बडी विशेषता उसकी अखडता है। इसीलिये कालिदास मे आरम्भ से अन्त तक सामजस्य है

समाज और व्यक्ति के आदर्शों मे। कालिदास मे व्यक्ति की उन्नति समाज-कल्याण की उन्नति से निरपेक्ष नही है। इस लोकसग्रह के सबसे बड़े आदर्श हैं, राम, जिनके बारे मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उन्ही को पा कर लोग पुत्र से पल्लवित हुए और उन्ही को पा कर लोग पिता से सनाथ हुए।[१] यहाँ तक कि लोक-तुष्टि के लिये ही उन्हे अपना स्नेह भी बलिदान करना पड़ा है। यह सही है कि सीता मात्र इन्द्रियार्थ नही हैं। और कालिदास उन्हे इन्द्रियार्थ कहते हुए चूक-से गये हैं, राम की ही भाँति वे सेवा-साधना की प्रतीक हैं और कदाचित् इसीलिये कालिदास ने सीता के द्वारा राम को यही सन्देह भिजवाया है कि राम का कर्त्तव्य पति के रूप मे विरत हो भी जाये प्रजा-पालक के रूप मे विरत नही होना चाहिए था।[२] सीता का व्यक्तिनिष्ठ उत्कृष्ट प्रेम राम के लोकव्रत का पूरक है, उसके बिना राम अधूरे हैं।

इसी अखड दृष्टि के कारण कालिदास सौन्दर्य के प्रति क्षणभगुर दृष्टि नही रखते। सौन्दर्य मे वे इसीलिये प्रलोभन नही देखते, उलटे सौन्दर्य को गुणो का आश्रय मानते है। सौन्दर्य के प्रति कालिदास का आकर्षण वस्तुवादी कही नही है।सुन्दर वस्तु कालिदास के लिये क्षणिक आकर्षण की वस्तु नही, बल्कि जन्म-जन्मातर की सौहार्द स्मृति दिलाने वाली है[३] और सुन्दरता इसीलिये ग्राहक और ग्राह्य दोनो है। स्वय वह परिसर के सौन्दर्य से प्रभावित है और परिसर उसके सौन्दर्य से प्रभावित है। सौन्दर्य का प्रवाह एक ही है, उसकी अभि-व्यक्तियाँ भिन्न हैं। कालिदास का प्रकृति-प्रेम भी इसी सौन्दर्य-बोध से अनु-प्राणित है।

कालिदास की कोई भी सौन्दर्य-प्रतिमा प्रकृति के वातावरण से विच्छिन्न

---

१ येनार्थवाल्लोभपराङमुखेन तेन घ्नता विघ्नभय क्रियावान्।
तेनास्मलोक पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री॥ रघुवश। १४

२. नृपस्य वर्णाश्रमपालन यतः स एव धर्मो मनुना प्रणीत।
निर्वासितापि तपस्विसामान्यमवेक्षणीया॥ र० १४।६७

३ नच्चेनसा स्मरति नूनमबोधपूर्व भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।
अ० शा० ५।२०।

करके रखी नही जा सकती, क्योकि उस प्रतिमा का अस्तित्व उसके वातावरण से सम्पृक्त है। शकुन्तला को आम की छाया, नवमल्लिका हरिनो के विश्वास, मालिनी नदी के बलुआ तट पर हंस के जोडो का विहार, उस मालिनी के और आगे दूर क्षितिज पर हिमालय की धुँधली-सी रेखा, स्वय इन सबसे यदि सबसे अलग कर दिया जाये तो उसका चित्र अधूरा रह जाता है। यही नही, स्वय शकुन्तला का श्रृंगार भी प्रकृति के उपहारो से ही सम्भव है यदि कानो मे शिरीष का फूल नही लटकाया गया और यदि मृणाल-मूल को स्तनो के बीच मे स्थान न मिला तो भी शकुन्तला की मूर्ति नही पूरी हो पाती ।[1] शकुन्तला ही नही उर्वशी, इरावती, यक्षिणी, इन्दुमती, पार्वती और सीता इन सभी सौन्दर्य-प्रतिमाओ मे प्रकृति का योगदान है। जिस सौन्दर्य की रचना मे प्रकृति उपकरण नही बनती, वह सौन्दर्य कालिदास के लेखे व्यर्थ है। कालिदास को विधाता की सामान्य सृष्टि मे उतना विश्वास नही है, जितना अपनी दृष्टि-पल्लवित सौन्दर्य सृष्टि मे ।

इसलिये कालिदास को भोग का प्रत्याख्यान नही बल्कि भोग का स्वीकार ही अधिक काम्य है। भोग का जीवन मे जितना स्थान है, उतना अवस्थाक्रम के अनुसार होना ही चाहिए, पर यह भोग विवेक से नियन्त्रित अवश्य हो। कुश की यह उक्ति कि जिस स्त्री से विवाह हुआ हो उस स्त्री के प्रति कामप्रीति रखना रघुकुल का स्वभाव नही है, यही प्रतिपादित करती है। इसलिये अग्नि-वर्ण जैसे भोगपरायण नायक मे रघुवंश की समाप्ति करायी भी गयी है। उस कुल की उज्ज्वल परम्परा का अग्निवर्ण तक आते-आते बिलकुल ही विनाश हो गया। अग्निवर्ण विनाश की परासीमा है। दुष्यन्त जैसा भोगपरायण नायक भी अपने भोग मे विवेक के द्वारा किसी न किसी रूप मे नियन्त्रित होता है और उसे अपनी भोगपरायणता का परिताप भी तीव्र रूप मे होता है। वस्तुत काम का महत्त्व कालिदास के लिये प्रजोत्पत्ति ही है। यदि प्रजोत्पत्ति नही है तो

---

१ कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्ररचितं स्तनान्तरे ॥ र० १६।८

काम व्यर्थ है। यह संततिलालसा भी उसी अखंड दृष्टि का एक विस्तार है जिसके कारण प्राय. कालिदास ने काम के वर्णन के प्रसग मे आम्रमजरी का स्मरण किया है।

आम्रमजरी ही काम के पचवाणो मे अग्रवाण मानी गयी है और कदाचित् इसीलिये कि वही एक ऐसा फूल है, जो कि गन्धर्व-योनि का न हो कर मनुष्य-योनि का है, ( जिसमे फूल ही आ कर नही रहते, फल भी लगते है ) उन्ही फलो में नये वृक्ष के बीज भी रहते है। शकुन्तला और पार्वती की इसीलिये कालिदास ने आम्रमजरी से उपमा दी है, यहाँ तक कि यक्ष ने भी बहुत ललक के साथ धरती के मातृत्व की सफलता की छाया आम्रफलो से लदी हुई आम्रकूट की छाया मे निहारी है[१]।

जिस तरह मातृत्व मे नारी की शक्ति का उत्कर्ष कालिदास ने पाया है, उसी तरह त्याग मे पुरुष का। रघु ने अपनी सम्पत्ति का त्याग किया है, राम ने अपने स्नेह का त्याग किया है और शिव ने अपने योग का त्याग किया है, तीनो ने त्याग किया है, किसी लोक-मगल के लिये और कम-से-कम राम और शिव को त्याग की प्रेरणा नारी से ही मिली है।

कालिदास ने उसी प्रेम की आराधना की है, जो प्रेमी को और प्रेमपात्र को परम महनीय बनाता है। यक्षिणी के प्रेम ने यक्ष को वह दृष्टि-विस्तार दिया है, जिसमे मनुष्य-देवता, जड-चेतन और नदी-पर्वत सभी एकाकार हो गये हैं, उसकी कामार्त्तता ने ही विश्व के रागात्मक प्रसार को देखने की शक्ति प्रदान की है। प्रियतमा की एकनिष्ठता के विश्वास ने ही उसे विश्वभावनशील बना दिया है। पार्वती के तप ने शिव को अपनी समाधि से उठ कर जगत् के मगल के लिये सोचने के लिये विवश किया है। शकुन्तला की स्मृति ने ही दुष्यन्त को प्रजावत्सल बना दिया है, और उसने यह डोडी फिरवा दी है कि जिसके पुत्र न हो वह दुष्यन्त को ही अपना पुत्र माने। सीता का तेजस्वी प्रेम

---

१, छन्नोपान्त. परिणतफलद्योतिभि काननाम्रै: मध्ये श्याम स्तन इव भुव शेषविस्तारपाण्डु. । ५. मे० । १८ ।

अपने को अपनी विगत और आने वाली पीढियो से अभिन्न देखना चाहता है। प्रेम विघटन करने वाला नही है, वह समाज के मगल की रचना मे सक्रिय योग देने वाला है। वह प्रेम समरसता का प्रतीक है और इसीलिये कालिदास के मन मे जिस देवता की मूर्त्ति सबसे अधिक अवस्थित है, वे है अर्धनारीश्वर शिव।

प्रेम का यह वैशिष्ट्य ही कालिदास का स्वर उदात्त बनाये रखता है और इसीलिये वे शक्ति के कोमल और कठोर दोनो रूपो के सामंजस्य के अभिलाषी हैं। पार्वती की उपमा उन्होने इसलिये काचन के पद्म से दी है। उनके महान् पात्र जितने ही कोमल है, उतने ही कठोर और जितने ही उदार, उतने ही ग्रहणशील है। उत्साह और श्रम सग्रह और दान मे, वचन और कर्म मे कालिदास कोई विरोध नही देखना चाहते। इसीलिये उनके मनुष्य का मेरुदण्ड सीधा है, उसकी कुण्डलिनी जाग्रत् है। उसकी मगल-साधना गतिशील है और उसकी श्रद्धा अविचल है।

कालिदास की शिवदृष्टि की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी निरभिमानता। कही भी यह नही प्रतीत होता कि कालिदास अपनी शिवदृष्टि के प्रति बहुत सचेत हैं। एक तरह से उनकी शिवदृष्टि अपूर्वचिन्तित ही जान पडती है, इसका कारण प्रयत्न का अभाव नही, बल्कि प्रयत्न का वह अतिशय है, जिसके कारण प्रयत्न का बोध ही नही हो पाता, ( बराबर सहजता का बोध होता रहता है। ) कालिदास का चैतन्य जागरूक होते हुए भी इतना निश्चिन्त है कि उसे अपने को जतलाने का कही भाव नही उदित होता। भवभूति की उक्ति के अनुसार ही कालिदास उन अलौकिक प्रतिभा वाले शब्द-द्रष्टाओ मे हैं, जिनकी वाणी के पीछे अर्थ दौडा करता है। ऐसी स्थिति अर्थ के सुदीर्घ भावन के परिणाम के कारण आती है।

इसीलिये कालिदास के स्वर मे उपदेष्टा भाव नही है। जीवन के महान् लक्ष्यों की ओर बहुत सूक्ष्म सकेत है, पर ये सकेत भी इस प्रकार पिरोये गये हैं कि सकेत तो नज़र आते है, पर संकेत का पिरोने वाला नज़र नही आता। यह नही है कि कालिदास का चित्त मनुष्य के परम श्रेय के लिये व्याकुल न हो। श्रेय की

चिन्ता ने ही राम को शौर्य, धैर्य और सत्य की दृढता प्रदान की है। कालिदास का प्रेम यह भी नही है कि कालिदास के मन मे भगवत्तत्व का विवर्त्तनशील रूप स्फुरित नही है और यह भी नही कि कालिदास है का ज्ञान परिष्कृत नही है, पर कालिदास को सबसे पहले चिन्ता इस बात की है कि उनके ज्ञान, भक्ति और कर्म-योग का भान नही होने पाये। इसीलिये कालिदास की वाणी की आपात रमणीयता के प्रवाह मे लोग कालिदास की इयत्ता को भूल जाते है। वस्तुत. कालिदास अपनी उक्ति से अधिक अपनी अनुक्ति मे हैं। मेघदूत मे कालिदास ने मेघ से सन्देश वहन कराने के साथ कई काम कराये है। मेघ को महाकाल की सन्ध्या-कालीन पूजा मे नगाडा बनाया है, फिर प्रदोपनृत्य के लिये उत्साहित शिव की आर्द्रगजाजिन-इच्छा का पूरक बनाया है, त्र्यम्बक के संगीतार्थ की सभा बनाया है, पर अन्त मे उसे गौरी के चढने के लिये सोपान बना कर ही उसकी यात्रा की पूर्णाहुति की है। इससे सूचित यह होता है कि कालिदास त्रिपुर-सुन्दरी के सिद्ध भक्त हैं, उन्हे विश्व-मोहिनी की धवलापाग दृष्टि की कोर प्राप्त है।

कालिदास ने अपनी इस शाक्त दृष्टि को अद्भुत ढग से भागवत धर्म से जोड़ा है। यदि कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग और रघुवश के दशम सर्ग की शिव और विष्णु की स्तुतियो की तुलना की जाये तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि एक ओर श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान-कर्म सम्मुच्चय से वे प्रभावित है तो दूसरी ओर शैवागम के सामरस्यवाद से अभिभूत हैं।

सक्षेप मे सामरस्य, समग्रता और आत्म-स्वातन्त्र्य ही कालिदास की शिव-दृष्टि के चरम रहस्य है।